19

महर्षि कार्ल मार्क्स

पसीना बहाकर कठिन परिश्रम से जीवन धारणोपयोगी वस्तुओं के उपार्जन करने वाले कर्मकरों एवं मजदूरों की सुख-सुविधा के पक्षधर इस विश्व में अनेक महापुरुष हुए हैं, परन्तु उनमें कार्ल मार्क्स का नाम इस धरती पर ज्योति-स्तम्भ की तरह जाज्वल्यमान है। आप भौतिक जीवन और जगत के कुशल व्याख्याकार, दार्शनिक एवं ऋषि हैं। आपके जीवन और कर्तव्य के विषय में यहां संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत किया जाता है।

1. जन्म और शिक्षा

कार्ल मार्क्स का जन्म 5 मई, 1818 ई० को जर्मनी के ट्रीर नगर में हुआ, जो राइनलैण्ड के वेस्टफालिया क्षेत्र में पड़ता है। इस क्षेत्र में लोहा और कोयला प्रचुर मात्रा में पाये जाते हैं, इसलिए यहां कारखानों का विकास हुआ और पूंजीपतियों का वर्चस्व बढ़ा, जिसे कार्ल मार्क्स को बचपन से ही देखने और समझने का अवसर मिला।

कार्ल मार्क्स यहूदी जाति में जन्मे थे। उनके पितामह का नाम मार्क्स लेवी था और वे ट्रीर नगर के यहूदियों के रब्बी अर्थात पुरोहित थे। यदि हम भारतीय भाषा में कहें तो कार्ल मार्क्स अपने देश के कट्टर ब्राह्मण-वंश में जन्मे थे।

कार्ल मार्क्स के पिता का नाम हर्शल मार्क्स था जो कार्ल मार्क्स के छह वर्ष की उम्र में ही इसाई हो गये थे और उनका नाम हर्शल मार्क्स से हाइनरिख मार्क्स हो गया था। कार्ल मार्क्स के पिता हाइनरिख मार्क्स रब्बीगिरी (पौरोहित्य) छोड़कर वकालत करते थे। घर सम्पन्न तथा खुशहाल था। कार्ल मार्क्स का बालकपन प्रसन्नता में बीता। माता आगे चलकर बच्चे को धनपति के रूप में देखना चाती थी और पिता विद्वान के रूप में। कार्ल मार्क्स विद्वान तो महान हुए, परन्तु आर्थिक संकट जीवन भर झेलते रहे।

कार्ल मार्क्स ट्रीर नगर के ही स्कूल में प्रवेश किये और सत्तरह वर्ष की उम्र में कालेज से प्रमाणपत्र पाकर उत्तीर्ण हो गये। वे जर्मन भाषा में निष्णात थे ही, लातिन भाषा पर भी उनका अद्‌भुत अधिकार था।

मार्क्स को उनके पिता ने बोन युनिवर्सिटी में दाखिल कराकर उन्हें कानून पढ़ाना शुरू किया। पिता वकील थे तो वे पुत्र को भी वकील बनाना चाहते थे।

पिता को मार्क्स के प्रति यह शिकायत रहती थी कि वे पैसे बरबाद करते हैं।

मार्क्स के पिता हाइनरिख का ट्रीर के एक सामंती प्रीवी कौंसिलर एवं गृहमंत्री लुडविग फान वेस्टफालेन से परिचय था। उनकी एक अत्यन्त सुन्दरी एवं शीलवती पुत्री थी। जिसका नाम जेनी था। इस लड़की से कार्ल मार्क्स का प्रेम उनके अठारह वर्ष की उम्र में ही हो गया था। इस समय जेनी की उम्र बाइस वर्ष की थी, अर्थात मार्क्स से चार वर्ष अधिक। इसी लड़की से मार्क्स का आगे विवाह हुआ जो जीवन भर एक पतिव्रता के रूप में मार्क्स की सेवा करती रही और उनके तपस्वी जीवन में सहयोग करती रही।

मार्क्स के पिता ने उन्हें बोन युनिवर्सिटी से हटाकर बर्लिन युनिवर्सिटी में दाखिल कराया, क्योंकि यह महत्त्वपूर्ण युनिवर्सिटी थी। परन्तु यहां के प्रोफेसरों के लेक्चरों से मार्क्स प्रभावित नहीं होते थे। केवल एडवर्ड गांज नाम के प्रोफेसर से ही मार्क्स प्रभावित थे। वस्तुत: मार्क्स स्वतन्त्र विचारक थे। वे प्राय: लकीर पर चलना पसन्द नहीं करते थे। ''दस वर्ष में युनिवर्सिटी जो उन्हें नहीं दे सकती थी, वह एक साल के भीतर अपने अध्यवसाय से वे प्राप्त कर सकते थे।''[1]

मार्क्स ने कुछ कविताएं भी लिखीं, परन्तु पीछे उसे छोड़ दिया। वे कानून, इतिहास तथा अधिक दार्शनिक ग्रंथों के अध्ययन में डूबे रहने लगे।

यूरोप के महान दार्शनिक हेगेल (1770-1831) का कार्य क्षेत्र जर्मनी का यही बर्लिन नगर था। हेगेल का दर्शन बर्लिन युनिवर्सिटी में पढ़ाया जाता था। मार्क्स ने उसे ध्यान से पढ़ा। मार्क्स ने जर्मन भाषा के साथ ग्रीक, लैटिन, इतालियन तथा आगे चलकर इंगलिश भाषा भी पढ़ी।

युनिवर्सिटी के धनी घराने के लड़के भी एक वर्ष में पांच सौ डालर खर्च करते थे, परन्तु मार्क्स सात सौ डालर खर्च करते थे। इसमें कारण था कि वे अपने मित्रों के सहयोग में भी पैसे खर्च करते रहते थे। बर्लिन युनिवर्सिटी में पढ़ते समय जब मार्क्स बीस वर्ष के थे तब उनके पिता हाइनरिख का तीन महीने की बीमारी में शरीरांत हो गया।

पिता के मरने के बाद भी मार्क्स तीन वर्षों तक बर्लिन युनिवर्सिटी में पढ़ते रहे। उन्हें हेगेल का दर्शन बहुत प्रभावित किया। यद्यपि हेगेल के दर्शन को पढ़ाने वाले उस समय योग्य प्रोफेसर नहीं थे, तथापि इस दर्शन के प्रेमियों का एक बड़ा मण्डल था। मार्क्स इसके अध्ययन में रम गये।

वैसे हेगेल का दर्शन बताता था कि व्यक्ति से बड़ा राज्य है। राज्यतंत्र ही शासन की अच्छी व्यवस्था दे सकता है। शासन में जनता के प्रतिनिधियों की

---

1. **कार्ल मार्क्स, पृष्ठ 9। लेखक राहुल सांकृत्यायन, किताब महल, इलाहाबाद।**

आवश्यकता नहीं। इसके लिए प्रभुताशाली व्यक्तियों की आवश्यकता है। ये सारी बातें मार्क्स के विचारों के विरुद्ध एवं प्रतिक्रियावादी थीं। परन्तु हेगेल में द्वन्द्वात्मक दर्शन के बीज थे। 'हेगेल के दर्शन के अनुसार अस्ति (है, भव) एक चीज है जिसका प्रतिद्वन्द्वी नास्ति है। इन दोनों के विरोधी समागम से एक तीसरी उच्च धारणा भवति (होती है) निकलती है। जिसके अनुसार हर एक चीज उसी एक ही समय 'है' भी और 'नहीं' भी है, क्योंकि हर एक चीज दीपक लौ की तरह सदा परिवर्तन की स्थिति में, विकास और पतन की स्थिति में है। इस दर्शन के अनुसार विकास की प्रक्रिया निम्न से उच्चतर रूप में निरन्तर परिवर्तित होती रहती है।''[1]

जैसा ऊपर बताया गया है कि हेगेल का दर्शन राजतन्त्र का पक्षपाती था, परन्तु वह उसी तरह धर्म का पक्षपाती नहीं था। हेगेल की घोषणा थी कि बाइबिल की कहानियां साधारण कहानियों की तरह ही काल्पनिक हैं जो ऐतिहासिक सच्चाइयों से दूर हैं। इस विचार से प्रभावित होकर डेविड स्ट्रास नामक एक युवक ने ईसा की जीवनी लिखी जो 1835 ई० में प्रकाशित हुई, जिसमें ईसा को ऐतिहासिक मानते हुए बाइबिल की कहानियों को ऐतिहासिक कसौटी पर कसने का प्रयास किया गया। इससे इसाई धार्मिक जगत में एक खलबली मच गयी। डेविड स्ट्रास ने अपनी तीव्र आलोचना में बताया कि बाइबिल निर्भ्रांत नहीं है।

मार्क्स की उम्र बीस वर्ष की थी। वे इसी समय तरुण हेगेलीय क्लब के सदस्य बन गये। उसके कितने ही सदस्य मार्क्स के चिंतन, प्रतिभा और लेखनी का लोहा मानते थे।

मार्क्स के इस अध्ययन के समय में कोपन और बावर नाम के दो मेधावी विद्वान थे। इनके प्रगाढ़ सम्पर्क में मार्क्स आये। ''कोपन ने ही पहले पहल फ्रांस की महाक्रांति के शासन का ऐतिहासिक तौर से विवेचन किया था। उसने अपने समसामयिक इतिहास लेखकों की क्रांति सम्बन्धी गलत धारणाओं का जबर्दस्त खंडन किया और कितने ही नये क्षेत्रों में ऐतिहासिक खोज की।''[2]

दूसरे विद्वान बावर ने कहा कि बाइबिल की कहानियों में इतिहास का थोड़ा भी अंश नहीं है। यह सारी कपोलकल्पित हैं। इसाईधर्म विश्वधर्म के रूप में संसार पर लादा नहीं जा सकता।

मार्क्स ने बर्लिन में ग्रीक दर्शन का गहरा अध्ययन किया। उन्होंने 1841 में 'दैमोक्रेतीय और एपीकुरीय स्वाभाविक दर्शन के भेद' विषय पर शोध प्रबन्ध

---

1. **कार्ल मार्क्स, पृष्ठ 12।**
2. **वही, पृष्ठ 13।**

प्रस्तुत कर पी-एच० डी० (दर्शनाचार्य) की उपाधि प्राप्त की। दैमोक्रेतु और ऐपीकुरु—दोनों परमाणुवादी दार्शनिक थे। एपिकुरु ने कहा था 'वह अनीश्वरवादी नहीं है जो कि पामर जन-समूह के देवताओं की अवमानना करता है, बल्कि अनीश्वरवादी वह है, जो कि जन-समूह के देवताओं सम्बन्धी रायों को स्वीकार करता है।.... प्रोमिथियों दार्शनिक जगत का सर्वश्रेष्ठ सन्त तथा शहीद था। उसने कहा था कि सीधा सत्य यह है कि मैं सभी देवताओं के प्रति घृणा रखता हूं। प्रोमोथियों ने देवताओं के चाकर हेरमी को जैसा उत्तर दिया था, उन्हीं शब्दों में—'निश्चिंत रहो, तुम्हारी निकृष्ट दासता से मैं अपने दुखों को कभी नहीं बदलूंगा।'[1]

2. कार्यक्षेत्र

मार्क्स आगे चलकर पत्र-पत्रिकाओं में राजनीतिक लेख लिखने लगे। उनके लेख बड़े विचारोत्तेजक तथा क्रांतिकारी होते थे। फिर एक पत्र के सम्पादक बन गये। वे तात्कालिक संसद की तीव्र आलोचना करते थे।

इसी समय एक योग्य विद्वान लुडविग फ्वारबाख (1804-32) हुए, जो बड़े ही क्रांतिकारी थे। आपको देहात का एकांत शांत जीवन पसन्द था। हेगेल के अनुयायियों की तरह फ्वारबाख भी शहर को कल्पनाशील दिमागों का कारावास मानते थे और देहात को स्वतन्त्र, शांत जीवन का प्रांगण। फ्वारबाख एकांतवासी होते हुए तीव्र चिंतक थे। उन्होंने इसाइयतसार में लिखा 'मनुष्य धर्म को बनाता है धर्म मनुष्य को नहीं। और मनुष्य की कल्पना जिस उच्चतम सत्ता को बनाती है, वह उसकी अपनी सत्ता का कल्पित प्रतिबिम्ब छोड़ और कुछ नहीं है।'[2] फ्वारबाख राजनीति से प्रेम नहीं रखते थे। मार्क्स राजनीति से प्रेम रखते थे और वे गरीबों की उन्नति चाहते थे। इसलिए वे राजपुरुषों तथा पूंजीपतियों की कड़ी आलोचना करते थे। उन्होंने फ्वारबाख के विचारों से भी काफी प्रेरणा ली।

मार्क्स ने देखा कि जर्मनी में रहकर स्वतन्त्र पत्रकारिता एवं लेखन असम्भव है। वे जर्मनी को छोड़कर दूसरे देश चले जाने की बात सोचने लगे।

3. विवाह

जैसा कि पहले बताया गया है कि कार्ल मार्क्स की एक लड़की जेनी, जो उनसे चार वर्ष बड़ी थी और एक सम्भ्रांत घराने की पुत्री थी, से प्रेम था और उसकी मंगनी हुए सात वर्ष बीत गये। मार्क्स को घरेलू कठिनाइयां आईं, परन्तु

---

1. वही, पृष्ठ 19-20।
2. वही, पृष्ठ 28।

वे लोककल्याण की भावना से इतने ओतप्रोत थे कि उन्हें व्यक्तिगत कठिनाइयां प्रभावित नहीं कर पाती थीं। उन्होंने 19 जून, 1843 ई० को जेनी से विवाह किया। 'जेनी का सारा जीवन पुराणवर्णित किसी परम तपस्विनी सती जैसा मालूम पड़ता है।'[1]

4. पेरिस में (1843-45)

कार्ल मार्क्स पेरिस में लगभग तीन वर्ष रहे। उनके राजनीतिक विचार पक रहे थे। उनके द्वारा उठाये गये कदम राजपुरुषों और पूंजीपतियों को परेशानी में डालते थे। वे अच्छे-अच्छे लेख लिखते थे और कभी-कभी इतने गहरे अध्ययन में डूबते थे कि तीन-चार रात तक सोते नहीं थे। इससे स्वभाव में चिड़चिड़ापन आ जाता था और स्वास्थ्य पर बुरा प्रभाव होना ही था।

पेरिस में अपने लेखों और विचारों के कारण मार्क्स ज्यादा दिन नहीं रह सके और वे कई अन्य मित्रों के साथ वहां से 1845 ई० में निर्वासित कर दिये गये। इस तरह फ्रांस की सरकार ने जर्मन क्रांतिकारियों को 11 जनवरी, 1845 ई० को देश से चले जाने की आज्ञा दी। इस निर्वासन के मूल में जर्मनी-सरकार का दबाव था।

5. फ्रीडरिख एंगेल्स

फ्रीडरिख एंगेल्स का जन्म 28 नवम्बर, 1820 ई० को जर्मनी के बर्मेन शहर में हुआ था। इस तरह वे मार्क्स से दो वर्ष छोटे थे। आगे चलकर एंगेल्स मार्क्स के परममित्र और शिष्य होकर जीवन भर रहे।

एंगेल्स के पिता धनी थे। वे एक कारखाने के स्वामी थे। इसलिए एंगेल्स का बचपन धनी परिवार में पला था। एंगेल्स ने साधारण विद्याध्ययन के बाद एक वर्ष कालेज में पढ़ा, और उसके बाद वे पिता की फैक्टरी में काम करने लगे। उन्होंने उसमें कई वर्षों तक काम किया, परन्तु उनका मन उसमें नहीं लगता था। उनके मन में भी मार्क्स की तरह ही मजदूरों एवं कर्मकरों की उन्नति एवं सर्वहारा की मुक्ति की तीव्र इच्छा थी।

एंगेल्स एक वर्ष 1841-42 के बीच में बर्लिन में तोपखाने में सैनिक सेवा में भी रहे। इस बीच छद्म नाम से वे क्रांतिकारी पत्र-पत्रिकाओं में लेख भी भेजते रहते थे।

एक साल के बाद सैनिक सेवा से निकलकर वे इंग्लैण्ड चले गये। वे एक कताई मिल में क्लर्क का काम करने लगे। इस मिल में एंगेल्स के पिता भागीदार थे। इसी यात्राकाल 1842 ई० में एंगेल्स ने कोलोन में कार्ल मार्क्स

---

1. वही, पृष्ठ 37।

से पहली मुलाकात की। परन्तु मार्क्स भावुक नहीं थे। वे यथार्थवादी विचार के थे। उन्होंने एंगेल्स की भेंट के समय अपना उत्साह नहीं प्रकट किया। परन्तु यही एंगेल्स मार्क्स का जीवनभर का मित्र, विचारों और कर्मों में साथी तथा जीवनपर्यन्त उनका आर्थिक सहयोगी बना। मार्क्स और एंगेल्स के राजनीतिक तथा दार्शनिक विचारों में अत्यन्त समानता थी। इन दोनों ने मिलकर पहलेपहल 'पवित्र परिवार' नामक पुस्तक लिखी।

6. ब्रुशेल्स में निर्वासित

कार्ल मार्क्स अपने विचारों के कारण पेरिस से निकाल दिये गये। अत: वे अपने परिवार के साथ ब्रुशेल्स में आकर बस गये। एंगेल्स ने मार्क्स के लिए धन का प्रबन्ध किया। परन्तु ब्रुशेल्स में भी वहां की सरकार ने मार्क्स से यह बात लिखवाकर हस्ताक्षर करा लिया कि बेल्जियम की राजनीति पर कुछ नहीं लिखेंगे। मार्क्स ने इसलिए हस्ताक्षर कर दिया कि उन्हें न तो ऐसा कुछ करने की इच्छा थी और न संभव था।

मार्क्स अभी अपने देश प्रशिया के नागरिक थे। परन्तु उन्होंने 1845 ई० में वहां की नागरिकता त्याग दी। फिर वे जीवन भर किसी देश के नागरिक नहीं बने। मार्क्स कहते थे कि मैं इस धरती का नागरिक हूं।

1845 ई० में एंगेल्स ब्रुशेल्स आकर मार्क्स सहित इंग्लैण्ड गये और छह सप्ताह तक वहां दोनों अध्ययन में लगे रहे।

ब्रुशेल्स में रहते हुए मार्क्स एंगेल्स के साथ अनेक राजनीतिक काम करते रहे। 1847-48 तक ब्रुशेल्स में कम्युनिस्टों की संख्या काफी बढ़ गयी। यह अलग बात है कि मार्क्स और एंगेल्स जैसा कोई नेता उनमें नहीं था।

मार्क्स और एंगेल्स ने ब्रुशेल्स में 'कर्मकर शिक्षा लीग' की स्थापना की, फिर उससे जर्मनी, लन्दन, पेरिस और स्विट्जरलैण्ड के कम्युनिस्टों से सम्बन्ध स्थापित किया। ऐतिहासिक कम्युनिस्ट-घोषणा-पत्र यहीं तैयार हुआ। इसके प्रकाशित होने पर यूरोप में तहलका मच गया और जगह-जगह क्रांतियां होने लगीं। मार्क्स को इन क्रांतियों में भाग लेने का उत्साह होने लगा। इस समय उनकी उम्र तीस वर्ष की थी।

मार्क्स शरीर से गठीले, माथा बड़ा, आंखें काली तथा चमकीलीं, बाल काले, दाढ़ी घनी तथा पूरा व्यक्तित्व आकर्षक था। अपने क्षेत्र के विद्वान तो वे अद्‌भुत थे। वे जहां पहुंचते अपने व्यक्तित्व और कर्तृत्व से अद्‌भुत प्रभाव डालते थे।

7. क्रान्ति

जर्मनी में क्रान्ति हुई। मार्क्स ने पत्रकारिता के द्वारा क्रान्तियों को बल दिया। उनके साथी कई थे। जिनमें एंगेल्स तो उनके आत्मा ही थे। मार्क्स

जर्मनी के राइनलैण्ड में पहुंचे जो उद्योग-धन्धों का गढ़ था। यहां उन्होंने मित्रों के सहयोग से 'नोयो राइनिशे जाइटुंग' नाम का पत्र निकाला। इस पत्र से जनता में चेतना जगी। परन्तु वहां की सरकार ने मार्क्स को देश-निकालने का आदेश दिया। मार्क्स ने पहले ही प्रशिया की नागरिकता का त्याग कर दिया था। इसलिए उन्हें जर्मनी से निकालना सरल था। मार्क्स पर मुकदमा चला। मार्क्स ने अपने पत्र को बन्द कर दिया, यद्यपि उसकी ग्राहक संख्या उस समय छह हजार हो गयी थी। मार्क्स ने अपनी पत्नी के चांदी के बरतन रखकर शेष सारी चीजें बेचकर मुद्रकों, कागज व्यापारियों, सम्पादकों, संवाददाताओं एवं क्लर्कों के पैसे चुकाये। आगे चलकर उन चांदी के बरतनों को फ्रांकपुर्त में बंधक रखकर कुछ पैसे लिये जो घर-गृहस्थी चलाने के लिए थे।

मार्क्स जर्मनी से फ्रांस गये। परन्तु वहां भी उन्हें चैन से रहने की जगह नहीं मिली। मार्क्स ने फ्रांस भी छोड़ने के लिए अपनी बात एक मित्र को लिखी 'इसके बाद 15 सितम्बर, 1848 ई० को मेरी पत्नी भी आ जायेगी, यद्यपि यह मैं नहीं जानता कि उसकी यात्रा और फिर कहीं सिर रखने के लिए पैसे कहां से आयेंगे।'[1]

8. लन्दन में निर्वासित तथा दरिद्रता के दिन

मार्क्स अपने देश से निर्वासित होकर लन्दन में रह रहे थे। कम्युनिस्टों की जितनी क्रांतियां हुई थीं सशस्त्र हुई थीं और सब विफल हो गयी थीं।

मार्क्स को 1849 ई० के नवम्बर में चौथा बच्चा हुआ, परन्तु आर्थिक संकट के कारण उसका ठीक से लालन-पालन नहीं हुआ। मार्क्स की पत्नी ने लिखा था—'बेचारा छोटा-सा फरिश्ता इतनी तकलीफों और चिंताओं से पाला गया, जिससे वह सदा बीमार और रात-दिन भीषण यंत्रणा में पड़ा रहता था। जब से वह दुनिया में आया, एक रात भी ठीक से नहीं सो सका और सोया भी तो एक समय दो या तीन घण्टे से अधिक नहीं।'[2] यह बच्चा जन्म के एक वर्ष बाद ही मर गया था।

मार्क्स के घर में कभी-कभी अन्न के दाने भी नहीं रहते थे। चीजें बंधक पर रखकर तथा उधार लेकर भी कब तक भोजन चल सकता था। इसी बीच घर के मालिक ने मार्क्स को घर से निकाल दिया। मार्क्स ने तो किराया दे दिया था, परन्तु घर वाले ने मूल भूमिपति को पैसा नहीं दिया था, तो उसके अपराध का दण्ड मार्क्स पर आ पड़ा। फिर मार्क्स एक गरीब कालोनी में दो कमरों के मकान किराये पर लेकर अगले छह वर्षों तक रहते रहे। मार्क्स अपने

---

1. **वही, पृष्ठ 90।**
2. **वही, पृष्ठ 95।**

उच्च आदर्शों के कारण ये विपत्तियां झेलते थे और इनमें वे चिंतित नहीं थे। बल्कि वे समझते थे कि गरीबों के काम करने के लिए गरीबी झेलनी ही पड़ेगी।

सन् 1850 ई० का समय है, मार्क्स अपनी महत्त्वपूर्ण कृति कैपिटल (पूंजी) के लिखने के लिए ग्रंथालयों में गहरा अध्ययन करके सामग्री इकट्ठी कर रहे थे, और इस समय उनके किराये के घर में घोर दरिद्रता थी।

यह स्थिति देखकर एंगेल्स उद्विग्न हो गये। वे एक आदर्शवादी साम्यवादी थे। इसलिए अपने पिता के कपड़े की मिल को घृणा से देखते थे। परन्तु उन्होंने मार्क्स को आर्थिक सहयोग देने के लिए उस मिल में नौकरी की।

अगस्त 1851 ई० को मार्क्स ने बेडेमेयर नाम के एक मित्र को लिखा था—'तुम्हें मालूम होगा कि मेरी स्थिति कितनी निराशापूर्ण है। यदि यही अवस्था देर तक रही तो मेरी पत्नी की हालत बहुत बुरी हो जायेगी। अपनी अनिवार्य आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए दिन-प्रतिदिन जिन संघर्षों और कठिनाइयों का सामना लगातार करना पड़ रहा है, उसके कारण वह कृश और निर्बल होती जा रही है। इस सबके ऊपर मेरे विरोधियों की नीचता अपना प्रभाव डाल रही है। वह मेरे ऊपर किसी सच्चाई से आक्रमण करने का प्रयत्न नहीं करते, बल्कि अपनी क्षमता के कारण मेरे प्रति संदेह पैदा करते, मेरे बारे में बड़े ही अवर्णनीय कलंकों को फैलाते, बदला लेने की कोशिश करते हैं।.....जहां तक मेरा सम्बन्ध है, मैं इन सारी बातों पर हंस सकता हूं, उनसे मैं अपने काम में जरा भी बाधा नहीं पड़ने देता। लेकिन तुम सोच सकते हो कि इससे मेरी पत्नी का भार हलका नहीं होगा। वह बीमार है। उसके ज्ञानतन्तु दुर्बल हो गये हैं। वह सबेरे से शाम तक भयंकर दरिद्रता से लोहा लेने के लिए मजबूर है।'[1]

इसके बाद मार्च में मार्क्स को एक लड़की पैदा हुई। उस समय उन्होंने एंगेल्स को परेशान होकर लिखा था कि इस समय घर में एक पैसा भी नहीं है।

मार्क्स ऐसी कठिनाइयों में भी प्रसन्न रहते थे, क्योंकि उनको यह आत्मविश्वास था कि मैं गरीबों के लिए काम कर रहा हूं और भविष्य उज्ज्वल है। मार्क्स उस समय के संसार के सबसे बड़े पुस्तकालय तथा संग्रहालय ब्रिटिश म्युजियम में सुबह नौ बजे से शाम सात बजे तक पढ़ते तथा अपनी रचनाओं के लिए नोट्स लिखते थे। परन्तु अनेक बार इस बीच खाने के लिए कोई वस्तु उनके पास नहीं रहती थी।

---

1. **वही, पृष्ठ 96।**

मार्क्स की पत्नी जेनी ने 1850 ई० में एक मित्र को अपने पति की आर्थिक विपत्ति पर लिखा था—'जो चीज मुझ पर सबसे अधिक चोट पहुंचाती है, मेरे हृदय को बेधकर लहूलुहान कर देती है वह यही है कि मेरा पति कितनी ही छोटी-छोटी कठिनाइयों के लिए परेशान है। उसकी सहायता के लिए थोड़ी-सी चीज भी पर्याप्त है, लेकिन जो दूसरों की हमेशा खुले दिल से सहायता करता रहा, वह अब स्वयं असहाय छोड़ दिया गया है। कृपया तुम यह न सोचो कि हम किसी से कुछ मांग रहे हैं, लेकिन कम-से-कम मेरे पति ने जिनको इतने विचार और समय पर सहायता दी है, उन्हें उनकी पत्रिका में कुछ अधिक व्यावसायिक उत्साह और दिलचस्पी तो दिखानी ही चाहिए।.....इससे मेरा दिल दुखता है, लेकिन मेरा पति और ही तरह सोचता है। उसका विश्वास भविष्य के प्रति कभी भी—सबसे भयंकर क्षणों में भी नहीं उठा। वह सदैव आनंदित रहता है।''[1]

मार्क्स पत्रिका निकालते, उसमें प्राय: मुनाफा की गुंजाइश कम ही रहती थी। वे दूसरी पत्र-पत्रिकाओं में लेख लिखते थे। उनकी इंगलिश अच्छी नहीं थी। अत: उनके लेख की इंगलिश एंगेल्स ठीक कर देते थे।

एक समय मार्क्स को बवासीर की भीषण बीमारी हो गयी, जिससे वे असहाय होकर घर में पड़े रहते थे। उसके साथ आर्थिक संकट भी था। उन्होंने लिखा—'मेरी स्थिति अब उस स्थान पर पहुंच चुकी है, जबकि मैं घर से बाहर नहीं निकल सकता, क्योंकि मेरे कपड़े बन्धक रखे हुए हैं और साख न रह जाने के कारण मैं मांस नहीं खा सकता।'[2]

मार्क्स ने एक बार एंगेल्स को पत्र लिखा—'मेरी पत्नी बीमार है, बेटी बीमार है...मैं डॉक्टर नहीं बुला सकता, क्योंकि मेरे पास फीस के लिए पैसे नहीं हैं। करीब आठ या दस दिन से अब तक हम रोटी और आलू पर गुजारा कर रहे हैं और अब इसमें भी सन्देह है कि वह हमें मिल सकेगा। मैंने डाना के लिए कुछ नहीं लिखा, क्योंकि मेरे पास अखबारों के खरीदने के लिए पैसे नहीं हैं। अब सबसे बढ़िया बात यही हो सकती है कि घर की मालकिन अपने घर से हमें बाहर निकाल दे, क्योंकि ऐसी अवस्था में बकाया किराये के बाइस पौंड का बोझ मेरे दिमाग से उतर जायेगा; लेकिन मुझे इसकी उम्मीद नहीं है कि वह इतनी दयावान होगी। इसके ऊपर रोटी वाले, दूध वाले, मोदी, साग

---

1. **वही, पृष्ठ 97।**
2. **मार्क्स मांस खाते तथा शराब पीते थे और धूम्रपान भी करते थे। परन्तु उनका शराबपान मर्यादाहीन नहीं था। एंगेल्स भी मांस, शराब, धूम्रपान के आदी थे। पश्चिमी देशों में इन बातों को लोगों में सहज देखा जा सकता है।**

वाले और गोश्त वाले के भी हम कर्जदार हैं। कैसे इस शैतानी आफत से मैं बाहर निकल सकता हूं? पिछले सप्ताह—मैंने कर्मकरों से कुछ शिलिंग क्या पेंस तक उधार लिये हैं। यह मेरे लिए भयंकर कृत्य था, लेकिन ऐसा करना अनिवार्य था, नहीं तो हम भूखे मरते। इस स्थिति में भी अपने कोट तक को बेचकर कोलोन के अभियुक्तों को सहायता करने के लिए मार्क्स प्रयत्न कर रहे थे।'[1]

इसी बीच मार्क्स की एक बच्ची मर गयी, तो उसके अंत्येष्टि-संस्कार करने के लिए पैसे नहीं थे। एक दयावान फ्रेंच शरणार्थी से मार्क्स की पत्नी ने दो पौंड मांगकर मृत बच्ची का अंत्येष्टि-संस्कार किया।

'एक समय मार्क्स घर के भीतर बन्द रहने के लिए मजबूर हुए, क्योंकि उनके पास बाहर जाने के लिए न कोट था न जूते। दूसरे समय उनके पास इतने पैसे नहीं थे, कि लिखने का कागज या अखबार खरीद सकें। फिर एक समय अपने लेख को प्रकाशक के पास भेजने के लिए डाक के टिकटों के वास्ते अपने परिचितों के पास हाथ पसारे दौड़ना पड़ा। मोदी, सब्जी वाले, रोटीवाले का दाम ठीक समय पर चुकाना न होने से उनकी झिड़क भी खानी पड़ती थी। उससे भी असह्य था घर के मालिक का बरताव—जरा भी किराया बाकी रहता, कि वह उनको निकालकर सड़क पर पटकने के लिए तैयार हो जाता। ऐसी स्थिति में यदि घर में कभी थोड़ी कड़वाहट आ जाये, तो कोई अस्वाभाविक बात नहीं थी। लेकिन मार्क्स को दूसरे विद्वान की तरह 'कटही' बीबी नहीं, बल्कि जेनी जैसी अनुपम देवी मिली थी, जो शायद ही कभी खीजती थी, और खीजने पर भी तुरन्त अपने को दोषी मान पति को शांत और संतुष्ट करने की हर प्रकार से कोशिश करती थी। लेकिन गरीबों में परिवार का बोझ बहुत भारी होता है; इसलिए मार्क्स ने अपनी राय दी थी—

'जो लोग मानवता की सेवा एकांत मन से करना चाहते हैं उनके लिए विवाह से बढ़कर कोई बेवकूफी नहीं हो सकती, क्योंकि इसके कारण उन्हें वैयक्तिक जीवन की छोटी-छोटी चीजों के लिए मरना-खपना पड़ता है।'[2]

अपने 50वें वर्ष को पूरा करते समय मार्क्स ने कहा था—'आधी शताब्दी का बोझा मेरी पीठ पर है और अब भी मैं अकिंचन हूं।' एक जगह वे लिखते हैं कि इस तरह के जीवन से हजार पोरसा समुद्र के नीचे जाना बेहतर है। और दूसरे समय कहते हैं—मैं अपने सबसे भयंकर शत्रु के लिए भी नहीं चाहूंगा कि वह ऐसा जीवन बिताये! एक समय जीवन की छोटी-छोटी चिंताओं ने उन्हें

---

1. **कार्ल मार्क्स, पृष्ठ 103-04।**
2. **वही, पृष्ठ 109।**

इतना पीस दिया था, कि वह आठ सप्ताह तक अपना बौद्धिक कार्य करने लायक नहीं रह गये थे।'[1]

9. भारत पर मार्क्स के विचार

ब्रिटिश म्यूजियम में भारत के सम्बन्ध में बहुत सामग्री अंग्रेजों ने इकट्ठी कर रखी थी। उसे पढ़कर मार्क्स ने अंग्रेजों की चालाकी तथा भारत की दीनता पर भारत के लिए बहुत सहृदय होकर लिखा था और उन्होंने अपने लम्बे लेख में बताया था कि भारत के लोग, ऐसा दिन अवश्य आयेगा जब अंग्रेजों की पराधीनता की बेड़ी काटकर स्वतन्त्र होंगे।

10. एंगेल्स को कष्ट

एंगेल्स की सुन्दरी एवं अनुकूल पत्नी 'मेरी' अचानक मर गयी। इससे वे बहुत पीड़ित हुए। उन्होंने कार्ल मार्क्स को पत्र लिखकर यह घटना बतायी। मार्क्स ने इस मृत्यु पर थोड़ा खेद प्रकट कर पीछे अपने घर की आर्थिक समस्या लिख डाली। पत्र पाकर एंगेल्स को धक्का लगा और उन्होंने मार्क्स को लिखा कि हमारे अन्य मित्रों के बड़े सौहार्दपूर्ण पत्र आये, परन्तु आपका जैसा मैं आशा करता था वैसा पत्र नहीं आया। इससे मैं बड़ा दूखी हूं।

उक्त पत्र पाकर मार्क्स को अपनी भूल का अनुभव हुआ और उन्होंने एंगेल्स से बारम्बार क्षमा मांगते हुए लिखा—'उस समय मेरे घर में अन्न नहीं था, लड़की बीमार थी और उधार देने वाले सामान नीलाम करने के लिए घर में पहुंचे हुए थे। यही कारण था जो मैं एकांतचित्त से 'मेरी' के मरने पर अपने भावों को प्रकट नहीं कर सका।''[2]

एंगेल्स ने उत्तर में लिखा कि कोई परवाह नहीं। आपके पिछले पत्र ने सब ठीक कर दिया और मुझे प्रसन्नता है कि मेरी के साथ-साथ मैंने अपने सबसे पुराने और सबसे अच्छे मित्र को नहीं खो दिया।[3]

11. कैपिटल (पूंजी)

कार्ल मार्क्स की 'कैपिटल' नामक पुस्तक तीन खंडों में है जो उनकी महत्त्वपूर्ण कृति है। मार्क्स ने तीनों जिल्द अपने जीवनकाल में लिख डाला था। परन्तु इसकी पहली जिल्दी की ही उन्होंने स्वयं प्रेस-कापी तैयार की थी, शेष दो की तैयारी एंगेल्स ने की थी। मार्क्स शेष दो जिल्दों को बिना व्यवस्थित किये संसार से कूच कर गये थे। एंगेल्स-जैसे योग्य विद्वान यदि न होते तो

---

1. वही, पृष्ठ 110।
2. वही, पृष्ठ 233।
3. वही, पृष्ठ 234।

मार्क्स के अस्त-व्यस्त कैपिटल के अन्त की दोनों जिल्दें इतने सुन्दर रूप में सम्पादित न हो सकतीं। कैपिटल तीनों खंड मूल रूप में जर्मन भाषा में लिखे गये थे। पहली जिल्द 1867 ई० में, अर्थात मार्क्स के जीवनकाल में ही छप गयी थी।

12. आर्थिक संकट, आत्मकसौटी और बीमारी

आर्थिक-संकट से तंग आकर मार्क्स ने एंगेल्स को लिखा 'पिछले दो महीनों से हमारा परिवार बंधक रहकर जी रहा है। मैं तुम्हें विश्वास दिलाता हूं कि इस चिट्ठी को लिखने की जगह मुझे अपनी अंगुली काट डालना अधिक अच्छा था। यह सचमुच ही असह्य है कि आदमी अपने जीवन का आधा परवशता में बिताये। मेरे दिल को सिर्फ यही समझकर संतोष है कि तुम और मैं दोनों भागीदार हैं—'मेरा काम है अपना समय सिद्धान्त तथा पार्टी-सम्बन्धी कामों के लिए देना।'[1]

इसी बीच प्रशियन-सरकार के एक महामन्त्री की ओर से मार्क्स के लिए यह प्रयास किया गया था कि वे अमुक पत्रिका में अपने लेख दें, तो उन्हें पारिश्रमिक के रूप में लगातार मोटी रकम दी जायेगी, परन्तु सिद्धान्त के विरुद्ध होने से मार्क्स ने इस प्रस्ताव को ठुकरा दिया था।

मार्क्स बहुत बीमार पड़ गये थे। फिर वे एंगेल्स की राय से कुछ दिनों के लिए एक स्वास्थ्य-प्रद क्षेत्र में चले गये। वहां से उन्होंने लिखा था—'मैंने चहलकदमी करने की आदत डाल ली है। दिन का अधिक भाग मैं खुली हवा में घूमता रहता हूं और दस बजे सो जाता हूं। मैं कुछ नहीं पढ़ता, लिखता भी कम, धीरे-धीरे मैं निर्वाण की स्थिति में पहुंचने की कोशिश कर रहा हूं, जिसे कि बुद्ध धर्म मानव-आनन्द की पराकाष्ठा मानता है।'[2]

13. अन्तिम दिन

मजदूरों को उनका अधिकार दिलाने का जो प्रयास कम्युनिज्म कर रहा था और उसे अपने सहयोगियों के साथ कार्ल मार्क्स सहयोग कर रहे थे, वह फेल हो गया। जर्मनी-फ्रांस आदि जहां-जहां कम्युनिज़्म राज्य लाने का प्रयत्न किया गया, उसके विरोधियों ने उसे अवरुद्ध कर दिया।

1853 ई० से मार्क्स कम्युनिज़्म के लिए अध्ययन और लेखन में लगे थे। लेकिन उनके जीवन में ही उनके अभियान का पतन हो जाने से 1878 ई० में उन्हें बड़ी निराशा हुई और तब से उन्होंने सदा के लिए लिखने से अपने हाथ समेट लिये।

---

1. **वही, पृष्ठ 154।**
2. **वही, पृष्ठ 155।**

1878 ई० में ही उनकी पतिव्रता पत्नी जेनी का भी निधन हो गया। मार्क्स उत्तरोत्तर बीमार रहने लगे। पत्नी के मरने से उनके दिल में ज्यादा धक्का लगा। उनको सरदी-खांसी बराबर रहने लगी, साथ-साथ कंठनली में असहनीय पीड़ा शुरू हुई। भोजन गले के नीचे उतारना कठिन हो गया। वे कठिन दुखों को भी बहुत सरलता से सहने के आदी थे। वे दूध के प्रेमी नहीं थे, परन्तु कंठनली की पीड़ा के कारण दूध पीकर रहने लगे। उनके शरीर पर उभरे रोगों में अब औषधियां प्रभावहीन हो गयी थीं। बल्कि दवाएं खाने के कारण उनकी भूख बन्द हो गयी थी और पाचन-शक्ति खराब हो गयी थी। अंतत: 14 मार्च, 1883 ई० को दोपहर बाद पौने तीन बजे वे अपने अध्ययन-कक्ष में आराम कुर्सी पर बैठे और शांति से दो मिनट में सदा के लिए सो गये। मरते समय उनको कोई पीड़ा नहीं हुई। मृत्यु के समय उनकी उम्र पैंसठ (65) वर्ष की थी।

लन्दन के हाईगेट के कब्रिस्तान में कब्रों का विशाल जंगल है। उसी के बीच कार्ल मार्क्स की कब्र है जिसमें उनकी पत्नी जेनी तथा उनका नाती एवं इसके अलावा मार्क्स-परिवार की एक मित्र हेलेने डेमुथ भी दफनायी गयी।

अपने आप को तथा कार्ल मार्क्स को नास्तिक मानने वाले महापण्डित राहुल सांकृत्यायन जब 9 नवम्बर, 1932 ई० को मार्क्स की समाधि के पास गये तब उन्होंने बड़ी भावुकता से मार्क्स को ऋषि तथा देवता कहकर उनकी समाधि पर फूल चढ़ाये।[1]

14. एंगेल्स

मार्क्स की जब मृत्यु हुई तब एंगेल्स तिरसठ (63) वर्ष के हो गये थे। उन्होंने बड़ी योग्यता के साथ मार्क्स-कृति कैपिटल की अगली दोनों जिल्दों का सम्पादन किया।

एंगेल्स भाषण की अपेक्षा साहित्यिक-शक्ति के धनी थे। वे करीब बीस भाषा बोल सकते थे। इंगलिश में वे अच्छा लिखते थे। उनको 1895 ई० में गले का कैंसर हो गया और पांच महीने तक पीड़ा भोगने के बाद 6 अगस्त, 1895 ई० को उनका पचहत्तर (75) वर्ष की उम्र में शरीरांत हो गया।

एंगेल्स ने जीवनकाल में अपनी इच्छा व्यक्त की थी कि मेरे मरने पर मेरे शव को जलाकर उसका भस्म समुद्र में डाल दिया जाये। अतएव उनके इच्छानुसार मार्क्स की एक पुत्री ने 27 अगस्त को एंगेल्स के शव-भस्म को समुद्र में डाला।

राहुल जी ने लिखा है "मार्क्स की हड्डियां अब भी लन्दन के हाईगेट कब्रिस्तान में मौजूद हैं, उनके शिष्य लेनिन और प्रशिष्य स्तालिन के शवों को

---

1. वही, पृष्ठ 225।

सजीव-से रूप में आज भी मास्को के लाल मैदान के समाधि मन्दिर में देखा जा सकता है, लेकिन एंगेल्स अब केवल अपनी कृतियों में ही जीवित हैं—जो उन अस्थियों से भी अधिक मूल्यवान और अमर है, इसे कहने की आवश्यकता नहीं।''[1]

15. उपसंहार

कार्ल मार्क्स की मृत्यु के समय उनके प्रबल उत्तराधिकारी लेनिन संसार के लिए एक अज्ञात रूप में पल रहे सोलह वर्ष के किशोर थे। इन्होंने ही मार्क्स के विचारों को लेकर रूस में क्रांति की और सन् 1917 में अपने अभियान में विजयी होकर विशाल सोवियत साम्यवादी गणतन्त्र की स्थापना की। वह करीब चौहत्तर (74) वर्षों तक विकास करता गया। परन्तु खेद के साथ कहना पड़ता है कि इस बीसवीं सदी के दसवें दसक के शुरू में ही उसका पतन हो गया और विश्व में साम्यवाद की रोशनी धूमिल होती जा रही है।

उक्त स्थिति को नजर में रखकर पूंजीवादी एवं प्रतिक्रियावादी विचारधारा के लोग कहते हैं कि मार्क्स के विचार एकदम फेल हो गये।

वस्तुत: महर्षि कार्ल मार्क्स के मूल विचार तब तक नहीं निष्फल होंगे जब तक धरती पर मानवता जीवित है। रोटी, कपड़े और मकान की व्यवस्था हो जाने पर ही कला, विज्ञान, राजनीति, दर्शन, धर्म आदि की तरफ मनुष्य की दृष्टि जा सकती है। जो मजदूर और कर्मकर अपने खून-पसीने बहाकर समाज के निर्वाह और सुख-सुविधा के लिए वस्तुओं का उपार्जन करते हैं, वे रोटी, कपड़े और मकान पाने के लिए हकदार हैं। एक तरफ विनाशकारी विलास में पानी की तरह रुपये बहाना तथा दूसरी तरफ उन्हीं रुपये को पैदा करने वालों का ठीक से रोटी, कपड़े तथा मकान तक न पाना कहां तक न्याय है!

मार्क्स का विचार है कि मजदूरों तथा कर्मकरों को उचित लाभ मिलना चाहिए और हर राज्य की ऐसी व्यवस्था होनी चाहिए कि सबको काम और दाम मिले। उनका यह विचार सदा स्तुत्य रहेगा।

परन्तु यह सब जनतन्त्र के रास्ते से कानून के द्वारा होना चाहिए। हिंसात्मक क्रान्ति से नहीं, धनियों को मारकर, उन्हें जेल में डालकर नहीं। जैसे भारत में समझाकर कानून के आधार पर राज्यतंत्र तथा जमींदारी का उन्मूलन हुआ, जिसका प्रत्यक्ष अच्छा फल साधारण जनता को मिला।

मार्क्स तथा कम्युनिज़्म के विचार में जो खास त्रुटि है वह है पूर्णतया भौतिकवाद। मनुष्य को मात्र मशीन मान लिया गया। मार्क्सवाद धर्म से ऐसा

---

1. **वही, पृष्ठ 242।**

चिढ़ गया कि उसने घोर जड़वाद का सहारा ले लिया। उसने चेतन पक्ष को भुला दिया।

जैसे मानवता के प्रेमी मार्क्स थे वैसे महात्मा गांधी थे। महात्मा गांधी धर्म और अध्यात्म को प्रश्रय देते थे, इसलिए उन्होंने अहिंसा और जनतन्त्र का रास्ता पकड़ा जो सुरक्षित, निर्भय तथा स्थिर है। मार्क्स के विचार को भी अहिंसा, जनतन्त्र एवं कानून के आधार पर संसार में लागू करना पड़ेगा।

महात्मा गांधी कहा करते थे कि साध्य के साथ साधन भी पवित्र होने चाहिए। अपवित्र साधन से पवित्र साध्य नहीं प्राप्त हो सकता। साधन सदोष होने से पवित्र साध्य भी निष्फल होगा। इसी का परिणाम आज मार्क्सवाद का पतन है।

श्रीकृष्ण महाराज ने मगधनरेश जरासंघ से उत्पीड़ित होकर मथुरा छोड़ द्वारका बसाया और वहां विशाल गणतन्त्र स्थापित किया। परन्तु उन्होंने महाभारत के अनुसार कौरव-पांडवों का युद्ध होने दिया, बल्कि अर्जुन के हतोत्साहित होने पर उन्हें ताऊ, चाचे, पितामह, गुरु तथा बन्धु-बांधवों की सामूहिक हत्या करने को उत्साहित किया। फलत: इस महायुद्ध में कौरव-पांडव का विनाश हुआ।

महाभारत युद्ध के छत्तीस वर्षों के बाद वही गृहकलह एवं गृहयुद्ध का अवसर श्रीकृष्ण के यादव-परिवार पर भी आया। हिंसा से हिंसा बढ़ती है। महाभारत में हिंसा को प्रश्रय देने से उसी हिंसा की लपेट में स्वयं कृष्ण महाराज का परिवार एवं गणतंत्र आ गया और उन्हीं के सामने उनका पूरा परिवार कटकर मर गया तथा गणतन्त्र नष्ट हो गया।

महाराज श्रीराम के बाद भी यही कथा हुई। रामराज्य के बाद उनका कोई इतिहास नहीं है। यदि लव-कुश को उनका पुत्र मान भी लिया जाये तो उनकी विशेषता केवल इसी में है कि उन्होंने अपने पिता, चचा और अपने चचेजात भाइयों को युद्ध में परास्त किया था। इसके बाद और कोई लता-पता नहीं है।

संसार परिवर्तनशील है। हर अच्छी-से-अच्छी स्थिति को भी पतन का मुख एक दिन देखना पड़ता है। आदमी का अन्धस्वार्थ अच्छी-से-अच्छी योजना को भी विफल कर देता है। विवेकी मनुष्य को अनंतकाल तक अपने अंधस्वार्थ और दुर्गुणों से लड़ना है और मानवता की सेवा करना है।

अनादिकाल से संसार के अनेक महापुरुष यहां तक श्रीकृष्ण और महात्मा बुद्ध गरीबों पर करुणाशील थे। संत कबीर साहेब तो मजदूरों तथा कर्मकरों के पक्षधर ही थे। जिस तरह कबीर साहेब ने धर्म-क्षेत्र में वैज्ञानिक-आंदोलन, छुआछूत-निरसन, राम-रहीम की एकता, सांप्रदायिक एवं मानवीय एकता एवं कर्मकरों की पक्षधरता की, कम-से-कम संत एवं धर्म-क्षेत्र में अद्वितीय है।

साईं इतना दीजिये, जामें कुटुम समाय।
मैं भी भूखा न रहूं, साधु न भूखा जाय॥
खुश खाना है खीचड़ी, माहिं परा टुक लौन।
मांस पराया खाय के, गरा कटावे कौन॥
रूखा सूखा खाय के, ठंडा पानी पीव।
देखि परायी चूपड़ी, मत ललचावे जीव॥

कबीर साहेब के नाम से जुड़ी उपर्युक्त साखियों का अभिप्राय यही है कि हम इतनी कम वस्तुओं में निर्वाह करें जिससे अन्य लोगों का भी निर्वाह सरलता से हो सके। अधिक भोग-विलास की इच्छा से ही दूसरे का अधिकार विविध प्रकार से छीना जाता है। यदि हर आदमी सादगी और कम खर्च से जीवन चलाने लगे तो समाज में आपाधापी समाप्त हो जाये।

और तो और, श्रीमद्भागवतकार ने तो कार्ल मार्क्स से दस कदम आगे बढ़कर आज से करीब हजार वर्ष पूर्व ही कह दिया है—

यावत भ्रियेत् जठरं तावत् स्वत्वं हि देहिनाम्।
अधिकं योऽभिमन्येत् स स्तेनो दण्डमर्हति॥

(श्रीमद्भागवत 7/14/8)

अर्थात जितने में देहधारियों का पेट भर जाये उतने पर ही उनका अधिकार है। जो इससे अधिक पर अपना अधिकार मानता है, वह चोर है, उसको दण्ड मिलना चाहिए।

अतएव महर्षि कार्ल मार्क्स की मूल चिंता सदैव आदरणीय रहेगी कि संसार के श्रमिक रोटी, कपड़े, मकान तथा अन्य सुख-सुविधाओं के अधिकारी हैं। मार्क्सवाद ने पूरे संसार को एक ऐसा धक्का दिया है कि दुनिया के सभी राष्ट्र चाहे उनके विचार कुछ हों, प्रकारांतर से समाजवाद मानने के लिए विवश है। आज पूरे विश्व में सामंतवाद कहां है? धन का अधिक लोभ सदैव कलह पैदा करेगा। अधिक खाने में नहीं, बांटकर खाने ही में कल्याण है।

20

स्वामी दयानंद सरस्वती

स्वनामधन्य विद्वान महात्मा महर्षि स्वामी दयानंद सरस्वती का नाम कौन नहीं जानता। आप अपनी सुकीर्ति से सर्वविदित हैं। आपने जिसमें जन्म और संस्कार लिया उस पंडित एवं हिन्दू-परम्परा को इतना कसकर झकझोरा कि उसकी सदियों की तंद्रा भंग हुई और वह जड़ता से हटने तथा अपनी समृद्ध प्राचीन परम्परा को समझने का प्रयास करने लगी। महर्षि दयानंद हिन्दू-समाज के लिए वरदान स्वरूप हैं।

1. जन्म और प्रेरणा

आपका शारीरिक जन्म गुजरात के मौरवी राज्य के भीतर टंकारा नामक ग्राम में फाल्गुन कृष्णा दशमी विक्रम संवत् 1881 तद्नुसार शनिवार 12 फरवरी, सन् 1825 को हुआ था। आपके पिता श्री का नाम था—श्री कर्षण जी तिवारी। स्वामी दयानंद सरस्वती का घर का नाम 'मूलशंकर' था; क्योंकि उनके पिता शिवभक्त थे, अत: उनके नाम में शंकर जोड़ा गया।

श्री कर्षण जी तिवारी धनी-मानी आदमी थे और साथ-साथ राज्याधिकारी भी। जैसा कि ऊपर चर्चा हुई है वे शिव के परम भक्त थे। वे मूलशंकर को विद्याभ्यास भी कराते थे तथा साथ-साथ उनसे शिव की उपासना करवाते तथा व्रत-उपवासादि रखवाते थे।

महा शिवरात्रि का समय आया। मूलशंकर जी पिताजी के साथ व्रत रहे। विधान था रात्रि भर शिवमंदिर में जागना। आधी रात तक मंदिर में उपस्थित सभी सज्जनों को नींद आने लगी; किन्तु मूलशंकर जाग रहे थे। इसी बीच जीवन के मोड़ की पहली घटना घटी। एक चूहा शिवलिंगी पर चढ़कर उस पर चढ़ी हुई मांगलिक वस्तुओं को खाने लगा। अनेक जन्मों के दिव्य संस्कारी 'मूलशंकर' आश्चर्यचकित रह गया—''महादेव की यह दुर्दशा है! जो अपने आप की चूहों से भी रक्षा नहीं कर सकता, वह हमारी क्या रक्षा कर सकता है?''

मूलशंकर को मूर्तिपूजा से घृणा हो गयी। उन्होंने घर आकर और कुछ खाकर व्रत तोड़ दिया। अब वे उपवास एवं मूर्तिपूजा आदि छोड़कर प्राणपण से अध्ययन में लग गये।

जीवन की जो घटनाएं लाखों-लाखों लोगों की आंखों को जरा भी नहीं खोल पातीं वे दिव्य संस्कारी पुरुषों को जीवनभर के लिए जगाकर बैठा देती हैं। बुद्ध-जैसे लोगों को ही वृद्ध, रोगी और मृतक प्रेरणा के कारण बनते हैं; बाकी लोग तो "सौ-सौ जूत खायं, तमाशा घुस के देखें।" मूलशंकर के जीवन में दूसरी घटना घटी। उनकी सोलह वर्ष की उम्र में उनकी छोटी बहिन मर गयी तथा जब मूलशंकर उन्नीस (19) वर्ष की उम्र में पहुंचे तब उनके प्रिय रक्षक चाचा मर गये।

होनहार मूलशंकर को गहरी ठेस लगी। रात-दिन उनके नेत्रों तथा मन के सामने संसार की क्षणभंगुरता झूलने लगी। उनको जीवन से उचाट हो गया। लोग अपने पैर कब्रों में लटकाये रहते हैं तब भी साल-खाड़ जीने की इच्छा रखते हैं, किन्तु संस्कारी जीवात्मा तरुण मूलशंकर अपनी मृत्यु को हर क्षण अपने सामने देखने लगे।

वे अपने मित्रों में संसार की असारता एवं विषय-वैराग्य पर चर्चा करते और कहते जीवन का लक्ष्य कल्याण है, विषय-सेवन नहीं। यह सब बातें घूम-फिरकर मूलशंकर के माता-पिता के कानों में पड़तीं। माता-पिता चिंतित तथा सतर्क रहने लगे कि बच्चा घर छोड़कर साधु न बन जाये।

माता-पिता ने मूलशंकर के बीसवें वर्ष की उम्र में सोचा कि जल्दी नौबत-नगाड़े बजवा कर बच्चे को विवाह में बांध दो, जिससे इसका वैराग्य सो जाये। तैयारी होने लगी। मूलशंकर ने इसका विरोध किया। विवाह रुक गया। मूलशंकर को, घर वाले बांधने वाले सिपाही-सदृश दिखने लगे। वे विद्याध्ययन के बहाने काशी जाना चाहे। विद्याप्रेमी होने के नाते उनके पिता ने तो अनुमति दे दी; परन्तु माता ने आज्ञा न दी। हारकर मूलशंकर ने एक सम्बन्धी विद्वान ब्राह्मण के घर जाकर विद्याध्ययन करने के लिए आज्ञा मांगी। माता-पिता ने आज्ञा देकर वहां भेज दिया; परन्तु उन सम्बन्धी पंडित को सावधान कर दिया कि मूलशंकर को गृहस्थी बसाने का उपदेश करो। ये सम्बन्धी मूलशंकर के घर से नौ किलोमीटर की दूरी पर थे।

पण्डित जी मूलशंकर को व्याकरण पढ़ाने लगे। समय-समय पर उन्हें विवाह करने के लिए भी उत्सुक करते थे। एक दिन बहुत कहने पर मूलशंकर ने साफ कह दिया "मुझे विवाह से ऐसी घृणा है कि मैं उसे आजीवन स्वीकार नहीं कर सकता। मैं अखण्ड वैराग्यमार्ग अपनाऊंगा।"

पंडित ने अपने अविवेकवश यह संदेश मूलशंकर के घर भेजवा दिया। माता-पिता के पैर की धरती सरक गयी। वे तुरन्त मूलशंकर को घर बुलाकर उनके विवाह के चक्कर में पड़ गये। मूलशंकर ने देखा कि माता-पिता अपने अविवेक एवं मोह-वश मुझे दृढ़ सांकल में बांधना चाहते हैं। अत: वे एक दिन

घर से यह संकल्प करके निकल पड़े कि ''अब इस घर में इस जीवन में कभी नहीं आना है।''

2. गृहत्याग

वे पहली रात घर से अठारह किलोमीटर की दूरी पर एक गांव में बिताये, और दूसरी रात साठ किलोमीटर की दूरी पर एक हनुमान मंदिर में बिताये। इधर पण्डित कर्षण जी के घर में खलबली मच गयी। वे यत्र-तत्र खोज कर उन्हें न पाये। इस समय मूलशंकर की उम्र बाइस वर्ष थी, यह घटना कोई विक्रम संवत 1903 की है।

मूलशंकर की दो महत्त्वाकांक्षाएं थीं—सच्चे शिव की प्राप्ति और मृत्यु पर विजय। मित्रों तथा सत्संगियों से सुना था ''यह कार्य योग से सिद्ध होता है। अत: वे योगियों की खोज में भटकते थे। पथ में साधुओं से सुना कि शैलानिवासी लाला भक्त अच्छा योगी है; अत: उनके पास जाकर योगाभ्यास आरम्भ कर दिया। एक ब्रह्मचारी ने उन्हें ब्रह्मचर्य की दीक्षा देकर काषायवस्त्र पहना दिया तथा तूंबा देकर कहा कि तुम्हारा नाम आज से 'शुद्ध चैतन्य' हुआ।

वहां से चलकर वे 'कोटा कांगड़ा' में वैरागियों के साथ तीन महीने रहे; परन्तु उन्हें संतोष नहीं हुआ। यहीं से सिद्धपुर में कार्तिक मास में होने वाले मेले की चर्चा उन्होंने सुनी और सुना कि वहां बहुत योगी-महात्मा आदि आते हैं। वे सोचे शायद वहां कोई सच्चा सद्गुरु मिल जाये; अत: गांव-गांव होकर वे वहां के लिए चल पड़े। उन्हें रास्ते में घर का एक परिचित व्यक्ति मिल गया और उसने कर्षण जी को पत्र द्वारा सूचित कर दिया कि आपका लड़का काषाय-वस्त्र धारण किये हुए सिद्धपुर मेले में गया है। कर्षण जी चार सिपाही लेकर सिद्धपुर आकर अपना डेरा डाल दिये और मेले में उनकी खोज करने लगे। एक दिन कर्षण जी एक मंदिर में गेरुवे वस्त्र में अपने लड़के को देखकर आपे से बाहर हो गये और मारे क्रोध के उबल पड़े—''तूने मेरे कुल में सदैव के लिए कलंक लगा दिया। तेरी माता रो-रो कर मरती है, तू मातृ-हत्यारा है, कुलबोरन है।''

शुद्ध चैतन्य ने पिता के पैर पकड़ लिए और कहा—मुझे क्षमा कर दें। मैंने साधुओं के बहकावे में आकर काषायवस्त्र पहना है। मैं यहां से घबरा गया हूं। मैं स्वयं आपके साथ घर चलना चाहता हूं।'' कर्षण जी को मूलशंकर की बातों पर विश्वास न हुआ और उन्होंने समझा कि छोकरा हमें चकमा दे रहा है और बात सचमुच थी भी वही, वे पिता से डरकर तथा अपना पिंड छुड़ाकर भाग निकलने के लिए यह सब कह रहे थे। कर्षण जी ने सिपाहियों से कहा—''इसे डेरे पर ले चलो और पहरे के अन्दर रखो।''

डेरे पर जाकर कर्षण जी ने शुद्धचैतन्य के काषायवस्त्र फाड़कर फेंक दिये और गृहस्थ के वेष पहना दिये। दो दिन दो रात वे पहरे के भीतर से न निकल सके; परन्तु तीसरी रात पहरेदार के सो जाने पर शुद्धचैतन्य भाग निकले। मेले से एक मील दूर एक बाग में मंदिर था। मंदिर पुराना था। उसके पास बट का पेड़ था। वे बट के पेड़ पर चढ़ गये और उससे मंदिर के एक खोल में जा बैठे।

रात में पहरेदार जगे। चारों ओर मूलशंकर की खोज होने लगी। उस बाग में भी कर्षणजी सहित सिपाही आये। पूरा बाग छान डाले। मंदिर के भीतर-बाहर देखा। पुजारी से पूछा। पता न लगा। शुद्ध चैतन्य गुम्बज में चुपके बैठे पिता की खोज देख रहे थे और उनका दिल धक-धक कर रहा था।

चार बजे रात तक खोजखाज कर वे वहां से चले गये। शुद्धचैतन्य जी पूरा दिन उसी पर बैठे रह गये। शाम सात बजे वे नीचे उतरकर एक अनिश्चित दिशा की ओर चल पड़े। कुछ दूर चलकर एक गांव में रात बिताये। दूसरे दिन पुनः चल पड़े। मनुष्य यदि अपना निश्चय स्वयं न छोड़े तो उसे कौन घुमा सकता है! जब बुरे मार्ग से लोगों को नहीं घुमा पाते तब अच्छे मार्ग से कौन घुमा सकता है! स्वामी दयानंद जैसे महापुरुष यदि एक माता-पिता, घर-परिवार का न त्याग करें तो लाखों-करोड़ों माता-पिताओं एवं लोगों को युग-युग के लिए कैसे प्रकाश देते रह सकते हैं?

3. भ्रमण और गुरु की खोज

शुद्धचैतन्य धीरे-धीरे अहमदाबाद होते हुए बड़ौदा गये। वहां शंकराचार्य मतानुयायियों का 'चैतन्य मठ' है। वहां कुछ दिन रहकर नर्मदा चले गये और गुरु की खोज करते रहे। वहां अनेक विद्वान संन्यासी निवास कर रहे थे। वहां वे सत्संग-साधना करते हुए डेढ़ वर्ष व्यतीत किये। अब वे चौबीस वर्ष के थे।

उन्होंने दण्डी स्वामी पूर्णानन्द जी से संन्यास की दीक्षा ली। उनका नाम पड़ा 'दयानन्द'। गुरुजी तो द्वारका चले गये, दयानन्द जी वहीं रह गये। उन्होंने वहां कुछ दिन रहकर योगी महात्मा की खोज में अहमदाबाद, हरिद्वार कुम्भमेला, ऋषिकेश, टिहरी आदि की यात्राएं कीं। टिहरी से श्रीनगर गये। वहां एक एकांतप्रेमी संत के यहां दो महीने रहे।

पुनः उन्होंने गंगागिरि, केदारघाट, रुद्रप्रयाग, शिवपुरी, गुप्तकाशी, बद्रीनाथ आदि उत्तराखण्ड का सात-आठ महीने तक भ्रमण किया तथा योगी गुरु खोजते रहे। इनमें शिवपुर में 3 मास, केदारघाट में 2 मास से अधिक, कुछ दिन जोशी मठ में बिताये और संतों का सत्संग करते रहे। स्वामी जी सच्चे त्यागी, योगी, विद्वान और संत थे।

अब पर्वतीय क्षेत्र छोड़कर समतल भूमि में किसी ज्ञानी गुरु की खोज के लिए उतर आये। संवत् 1912 की समाप्ति में वे फर्रुखाबाद से कानपुर पहुंचे। संवत् 1913 में पांच मास तक वे कानपुर से प्रयाग के बीच में रहे। फिर काशी गये। वहां से नर्मदा नदी को गये और उसका मूल खोजने के लिए नदी-नदी चल पड़े जिसमें जंगलों में काफी कष्ट उठाये।

कार्तिक संवत् 1913 से 1917 तक वे कहां रहे तथा क्या किये इसका पता नहीं चलता। यही सन् 1857 के स्वतंत्रता संग्राम के दिन थे। लोग अनुमान करते हैं स्वामी जी उसमें शरीक रहे होंगे।

4. स्वामी विरजानन्द की शरण

दयानन्द जी मथुरावासी विद्वान संन्यासी प्रज्ञाचक्षु स्वामी विरजानन्दजी की कीर्ति सुने और वे अपनी 36 वर्ष की उम्र में विक्रमी संवत् 1917 में मथुरा पहुंचे। विरजानंद जी विद्याभिलाषी तथा अध्यात्म-पिपासु के अतिरिक्त केवल दर्शनार्थियों से नहीं मिलते थे। जब दयानन्द जी वहां पहुंचे, उस समय उनका फाटक बन्द था। दयानन्द जी ने किवाड़ खटखटाया। उन्होंने कहा—''तुम कौन हो?'' दयानंद ने कहा—''यही जानने आया हूं।'' उन्होंने कहा—''कुछ पढ़े हो?'' जो पढ़े थे दयानन्द जी ने बता दिया। विरजानंद ने कहा—'जो पढ़े हो उसको यमुना में फेंक आओ।''

फाटक खुला। विरजानंद ने कहा—''संन्यासी के भोजन-आवास का क्या ठिकाना है?'' दयानन्द ने कहा—भगवान को इसका भार न दूंगा, इसे मैं स्वयं निभाऊंगा। दयानन्द जी गुरु से पाणिनी रचित अष्टाध्यायी तथा पंतजलिकृत महाभाष्य पढ़ने लगे। अमरलाल नामक एक ब्राह्मण दयानन्द जी को नित्य भोजन देने लगा। उन्हें यमुनातट पर रहने की एक कोठरी भी मिल गयी तथा गोवर्द्धन सर्राफ चार आने मासिक मिट्टी तेल के लिए देने लगा जिससे रात में पाठ याद करने में सरलता हो।

दयानन्द जी ने अष्टाध्यायी तथा महाभाष्य के अतिरिक्त अनेक वैदिक साहित्य पढ़े। विद्या पूरी हुई। उनका समावर्तन-संस्कार हुआ। विद्या पूरी होने पर यह विद्यार्थी का एक संस्कार होता है। दयानन्द ने गुरु-दक्षिणा में थोड़े से लौंग लाकर चढ़ाया जो दुकानों से मांग लाये थे।

प्रज्ञाचक्षु स्वामी विरजानंद ने कहा—''दयानन्द! तूने दक्षिणा में क्या चढ़ाया है?''

''भगवन! मुझ अंकिचन के पास है ही क्या! भिक्षा करके थोड़े-से लौंग लाकर चढ़ाया हूं।''

''दयानन्द! यह दक्षिणा मुझे नहीं चाहिए। मैं तुमसे चाहता हूं कि तुम सत्य धर्म का प्रचार करके जनता में ज्ञान-प्रकाश फैलाओ।''

दयानन्द नतमस्तक हो गये और गुरु का चरण-स्पर्श करके चल दिये।

5. भ्रमण और प्रचार

विरक्त विद्वान प्रतिभा के धनी स्वामी विरजानन्द जी से शिक्षा-दीक्षा पाकर दयानन्द पूर्ण सशक्त हो गये और प्रचार के लिए निकल पड़े। पहले उन्होंने आगरा नगर को चुना। आगरा में दो वर्ष निवास किये। वे मूर्तिपूजा और भागवत पुराण का खण्डन अधिक करते थे। वहां से वेदों की खोज में वे धौलपुर गये।

जेष्ठ संवत् 1925 में वे कर्णवास में एक कुटी में रहते थे। कुछ लोगों ने आकर स्वामी जी से कहा ''रासलीला देखने के लिए आपको आमंत्रण है।'' स्वामी जी ने कहा—''इस अधर्म कार्य में मैं नहीं जाऊंगा। मलिन लोगों द्वारा हमारे महान पुरुषों का स्वांग भरकर नाचना—यह केवल हिन्दू धर्म में ही चल सकता है।'' लोगों ने वहां के राव कर्णसिंह को स्वामीजी के विरुद्ध भड़काया। उसने दूसरे दिन कुछ सिपाहियों के सहित आकर स्वामीजी को अपशब्द कहा और तलवार लेकर आगे बढ़ा। स्वामीजी ने उसकी तलवार को छीनकर जमीन में दबा दिया, वह टूट गयी और राजा को धक्का देकर कहा ''शस्त्र लेकर भिड़ना हो तो जयपुर-जोधपुर के नरेशों से भिड़ो, हम संन्यासियों से नहीं।''

राव कर्णसिंह लज्जा तथा क्रोध से भरकर राजभवन लौट आया; परन्तु एक दिन अपने तीन सेवकों को भेजकर दयानन्द को मार डालने का आदेश दिया। वे तीनों जब रात में कुटी के पास गये, आहट से स्वामी जी जाग गये और उन्होंने ऐसा जोर से हुंकारा कि वे तीनों भाग खड़े हुए।

संवत् 1929 आश्विन कृष्णा 13 को स्वामी विरजानन्द का मथुरा में देहावसान हो गया। यह संदेश सुनकर स्वामी दयानंद ने कहा—''व्याकरण का सूर्य डूब गया।''

कहा जाता है दो व्यक्तियों ने ठाकुर गंगासिंह से शस्त्र मांगे कि दयानन्द को समाप्त कर दिया जाये। ठाकुर जी उनको बहुत फटकारे और स्वयं जाकर स्वामीजी की रक्षा के लिए उनके पास कुछ दिन रहे। स्वामीजी ने फर्रुखाबाद में रहकर जर्मनी से वेदों को मंगवाया। वे उत्तरी भारत तथा पश्चिमी भारत के अनेक नगरों में घूम-घूम कर तूफानी प्रचार करने लगे। उनके प्रचार में मूर्तिपूजाखण्डन, पुराणखण्डन, देवी-देवता खण्डन, ईश्वर, वेद, सदाचार प्रतिपादन आदि रहते थे। स्वामीजी सभी दूसरे मतों की बुरी तरह छीछालेदर

करते थे और इसका परिणाम यह हुआ कि उनके बहुत विरोधी बन गये। साथ-साथ वे जहां जाते उनके अनुयायी भी काफी मात्रा में बनते जाते थे।

अनेक नगरों में प्रचार के बाद स्वामीजी ने विद्वत नगरी काशी में भी पधारकर वहां के पण्डितों से शास्त्रार्थ किया। उन्हें झोपड़ियों से राजभवनों तक स्वागत, फूल की मालाएं मिलती थीं तो गाली, पत्थर, कंकड़, जूते, अपशब्द भी मिलते थे; परन्तु स्वामीजी किसी अपराधी से बदला लेने की नहीं सोचते थे।

एक बार स्वामीजी अनूपशहर में थे। एक ब्राह्मण एक बीड़ा पान लाकर स्वामीजी को विनयभाव से दिया। स्वामीजी ने मुख में ले लिया। जब उसका रस मुख में फैला तब पता चला इसमें विष है। उन्होंने तुरन्त नदी पर जाकर न्यौली क्रिया द्वारा विष के प्रभाव को दूर किया। स्वामीजी के श्रद्धालु सैय्यद मुहम्मद तहसीलदार ने उस ब्राह्मण को पकड़वा लिया और स्वामीजी के सामने प्रस्तुत किया। स्वामीजी ने कहा—"इसे छोड़ दो, मैंने लोगों को बंधनों से छुड़ाने के लिए अपना कार्यक्रम रखा है, बांधने के लिए नहीं।"

स्वामीजी लौहपुरुष थे। वे डर नाम की वस्तु नहीं जानते थे। उन्हें लोगों ने अनेक बार सावधान किया था कि आप मुसलमानों, इसाइयों, सनातनधर्मियों का बुरी तरह खण्डन न किया करें, परन्तु स्वामीजी कहते थे कि सत्य को ज्यों-का-त्यों कहने में डर क्या है! वे निडर होकर खूब खण्डन करते थे। राजाओं के वेश्यागमन, मद्यपान आदि पर भी प्रबल प्रहार करते थे। और इसके परिणाम में बहुत लोग उनके अनुयायी होते थे तथा बहुत लोग अपमान करने पर तुलते थे, परन्तु अपमान करने वालों का वे कभी अहित नहीं सोचते थे। इस प्रकार उनकी खण्डन-मण्डन की प्रवृत्ति होते हुए भी वे एक संत थे।

उन्होंने व्याकरण पढ़ाने के लिए कुछ पाठशालाएं भी चलायीं; परन्तु पीछे पण्डितों की चालबाजी देखकर उन्हें तोड़ दीं।

2 जनवरी, 1877 को दिल्ली में गवर्नर जनरल ने महारानी विक्टोरिया को राजराजेश्वरी घोषित करने के लिए एक आयोजन किया था। उसमें भारत के समस्त प्रांतीय गवर्नर तथा राजे-महाराजे के आने की बात थी। यह सुनकर स्वामीजी ने भी दिल्ली के एक बाग में कैम्प लगाया कि राजाओं को उपदेश दिया जाये; परन्तु उस समय उन राजाओं का वहां आने का दृष्टिकोण ही कुछ और था; अत: केवल डुमराव तथा इंदौर के महाराजा ही स्वामीजी से मिलने आये।

गोहत्या-निषेध के लिए लाखों भारतीयों से हस्ताक्षर कराकर स्वामी जी इंग्लैण्ड महारानी विक्टोरिया के पास भेजने वाले थे, परन्तु कुछ कारणवश वह कार्य रुक गया।

एक बार स्वामीजी फर्रुखाबाद में थे। वहां के मजिस्ट्रेट स्काट महाशय स्वामीजी को श्रद्धेय मानते थे। उसी समय बाजार की नाप हो रही थी। एक सड़क में एक देवस्थान था। लोग वहां किसी देवी-देवता को मानकर धूप-दीप किया करते थे।

स्वामीजी के एक अनुयायी ने कहा—''स्वामी जी! स्काट साहेब आपके प्रेमी हैं। आप उन्हें थोड़ा इशारा कर दें तो सड़क की मढ़िया (देवस्थान) हट जाये और अंधविश्वास का एक गढ़ समाप्त हो जाये।''

स्वामी जी ने कहा—''बेकार बातें मत करो। मैं लोगों के मन-मंदिरों से जड़मूर्तियां निकलवा रहा हूं, पत्थर की मूर्तियों-मंदिरों का तोड़ने वाला मैं नहीं हूं। मुसलमानों ने हजारों मंदिर तथा मूर्तियां तोड़ीं, परन्तु क्या मूर्तिपूजा बन्द कर सके? मैं मंदिर-मूर्ति तोड़वाकर किसी की आस्था पर आघात नहीं कर सकता।''

स्वामीजी ने कोई पन्द्रह वर्षों के भीतर में अपने विचारों को फैलाने के उपलक्ष्य में भारत में एक बहुत बड़ा आंदोलन खड़ा कर दिया और सत्यार्थ प्रकाशादि अनेक ग्रंथों की भी उन्होंने रचना की।

6. आर्य समाज की स्थापना

चैत्र शुक्ल पंचमी शनिवार विक्रमी संवत् 1931 तदनुसार 17 अप्रैल, 1875 में स्वामी जी ने पहले बम्बई में गिरगांव मुहल्ला डॉ० माणिक चन्द्र की वाटिका में 5.30 बजे सायं 'आर्यसमाज' नामक संस्था की स्थापना की। उसके बाद जगह-जगह उसकी स्थापना हुई।

अनेक बार स्वामी जी को विरोधियों द्वारा विष दिया गया था। वे योगक्रिया द्वारा उसके दोष तो अवश्य दूर करते रहे; परन्तु विष का प्रभाव सर्वथा नहीं जाता रहा। वे विष धीरे-धीरे स्वामी जी के बलवान शरीर को निर्बल बना रहे थे। उनको अब यह विचार उठने लगा कि शरीर तो नाशवान है और देशभर में फैले हुए आर्यसमाज का कोई केन्द्र नहीं है जहां से उनकी व्यवस्था हो सके। वेद-भाष्य तथा अपनी अन्य पुस्तकों को प्रकाशित करने के लिए स्वामीजी ने एक ''वैदिक प्रेस'' की स्थापना की थी; परन्तु उनके निरन्तर प्रचार कार्य में दौरे के कारण वह भी पंगु बना पड़ा था। उनके ग्रंथ जहां-तहां छपे पड़े थे। उन सबको एकत्र रखकर केन्द्रीभूत करने की योजना आज तक नहीं बन पायी थी।

फिर उन्होंने तेईस (23) सदस्यों की समिति बनाकर और उन्हें अपने द्रव्य, प्रेस आदि का उत्तराधिकारी बनाकर उन्हें सौंप दिया।

पौराणिक हिंदू, चक्रांकित, मुसलमान तथा जागीरदार स्वामीजी से बेहद नाराज थे। एक बार स्वामीजी जोधपुरनरेश महाराजा यशवंतसिंह के यहां पधारे

थे। राजा नन्हीजान वेश्या से बुरी तरह फंसा था। नन्हीजान अपने डोला में बैठकर राजभवन से अपने घर जाने वाली थी कि इतने में स्वामी जी पहुंच गये। स्वामी जी ने देखा कि नरेश स्वयं नन्हीजान को बिदा करने दरवाजे तक गये हैं। स्वामीजी ने कहा—''राजन! सिंह की गोद में कुतिया नहीं शोभती। राजा को चरित्रवान होना चाहिए। पैसे पर सबको अपना तन देने वाली वेश्याओं से सम्बन्ध नरेश का नहीं होना चाहिए।''

यह बात नरेश को खली, परन्तु वह स्वामीजी के प्रति श्रद्धालु था। किंतु नन्हींजान ने भी इसे सुन लिया। वह स्वामीजी पर मन-ही-मन बहुत कुपित हुई और स्वामी जी के भण्डारी जगन्नाथ से दूध में स्वामीजी को जहर दिला दिया। यह घटना आश्विन कृष्णा चतुर्दशी संवत् 1940 तदनुसार 29 सितम्बर, 1883 को घटी।

स्वामी जी दूध पीकर रात में सोये और उनके पेट में गड़बड़ी हुई। वे उठे, तीन बार वमन किये। उनके पेट में भीषण वेदना होने लगी। दूसरे दिन महाराजा प्रताप सिंह समाचार पाये और वे डॉ० अलीमर्दान खां को भेजे। उसके उपचार से रोग अधिक भयंकर हो गया। कहा जाता है मर्दान खां ने दवा तथा सुई से स्वामी जी के स्वास्थ्य को पूरी तरह गड़बड़ में डाल दिया। स्वामीजी को अतिसार हो गया। उनको एक दिन में तीस-चालीस दस्त होने लगे।

इधर स्वामी जी ने जगन्नाथ को पकड़ लिया और उससे ही उसके मुख द्वारा विष देने का पाप स्वीकार करवा लिया। स्वामीजी ने कहा—''जगन्नाथ, तूने बहुत बुरा काम किया है। मुझे अभी बहुत कुछ करना था; परन्तु तूने बीच ही में मेरे शरीर को समाप्त करने का प्रोग्राम रचकर कितने लोकमंगल के कार्य रोक दिये। उन्होंने जगन्नाथ को कुछ रुपये देते हुए कहा—अच्छा, लो, इसे अपने निर्वाह के लिए लेकर नेपाल भाग जाओ, अन्यथा तुम्हारा यहां कुशल न होगा।''

यह है महामना स्वामी दयानन्द का संतलक्षण।

तार पाकर लाहौर, बम्बई, मेरठ आदि से अनेक भक्त आ गये और सब भक्तों ने देखा रोग का भीषण स्वरूप, उपचार की विपरीतता और सेवा की असुविधा। डॉ० सूर्यमल ने कहा कि इस राक्षस भूमि जोधपुर से शीघ्र स्वामीजी को लेकर आबू पर्वत चलें। स्वामी जी को आबू पर्वत ले जाया गया। आबू में कुछ दिन रखकर औषधोपचार की सुविधा अजमेर में देखकर स्वामीजी को वहां ले जाया गया, परन्तु अजमेर में भी उनका स्वास्थ्य न सुधरा। अंततः कार्तिक अमावस्या (दीपावली) को यह दीपक बुझकर लाखों के दिलों में युग-युग के लिए ज्योति जगा गया।

स्वामी जी ने शुद्धि, नारीशिक्षा, छुआछूतनिराकरण, पाखण्डनिरसन, राष्ट्रीयता आदि द्वारा हिन्दू समाज को ऊपर उठाने का प्रयत्न किया। वे जीवनभर संसार की सारी मानव जातियों को एकत्र होने के लिए उदारतापूर्वक आह्वान करते रहे।

स्वामी दयानन्द जैसे महापुरुष शरीरमात्र से ही मरते हैं; आत्मा से नहीं। उनका यश: शरीर युग-युग रहता है। उनका जलाया दीपक करोड़ों दीपकों को जलाता रहेगा।

21
महात्मा ज्योतिराव फुले

मिथ्या अभिमानियों को न डरने वाला, पददलितों में शुद्ध स्वाभिमान जगाने वाला, निम्न कहे जाने वालों का उन्नायक, नारियों की शिक्षा का समर्थक, बहुत सारे अंधविश्वासों का विरोधी, सत्यधर्म का पक्षधर, आजीवन मानव-सेवा में रत, क्रांतिकारी, निर्भय महात्मा ज्योतिराव फुले का हम यहां संक्षिप्त विवरण मनन करें।

1. जन्मस्थान एवं जन्मकाल

महात्मा ज्योतिराव फुले का जन्म सन् 1827 ई० में महाराष्ट्र राज्य के प्रसिद्ध नगर पूना में हुआ था। उनकी माता का नाम चिमना बाई तथा पिता का नाम गोविंद राव फुले था। ये माली जाति के थे। फूल पैदा करना तथा उसके माला, गुलदस्ते, तकिये, गद्दे आदि बनाकर बेचने का काम करना इनका धन्धा था। फूलों का धंधा करने से इनके नाम की उपाधि फुले थी। ज्योतिराव फुले के बड़े भाई का नाम राजाराम था।

2. बाजीराव पेशवा द्वितीय का पतन

शिवाजी के द्वारा स्थापित मराठा राज्य जो लगभग सवा सौ वर्षों से चला आ रहा था, बाजीराव पेशवा द्वितीय के पतन के साथ सदा के लिए समाप्त हो गया। बाजीराव पेशवा द्वितीय महा विलासी था। जिस दिन पेशवा जिस बस्ती में जाता था, वहां कई सुंदरी युवतियां उससे बचने के लिए आत्महत्या कर लेती थीं। उसके राज्य में ब्राह्मणवाद निरंकुश था। गरीबों, शूद्र तथा अतिशूद्र कहे जाने वाले लोगों का तिरस्कार और शोषण चरम सीमा पर था। पेशवा-शासन की तरफ से ब्राह्मणवाद का खुला समर्थन था। इसी बीच ब्रिटिश-शासन द्वारा पूना तथा महाराष्ट्र पर 1819 ई० में अधिकार कर लिया गया, और पेशवा को उत्तर भारत के कानपुर जिले के बिठुर नामक जगह में रहने की व्यवस्था दी गयी। ब्रिटिश शासन द्वारा पेशवा को आठ लाख रुपये वार्षिक पेंशन दी जाती थी और यह उन्हें जीवन भर मिलती रही। बाजीराव पेशवा द्वितीय की 1853 ई० में बिठूर ही में मृत्यु हुई।

1819 ई० में पेशवा के पतन तथा ब्रिटिश राज्य स्थापना होने में गरीब स्तर के लोगों को कोई तकलीफ नहीं हुई। पूना के स्त्री-समाज ने पेशवा के

पतन से आनंद मनाया। वैसे उस समय पूना विद्वान ब्राह्मणों का गढ़ था, परंतु सामान्य जनता में घोर निरक्षरता थी।

3. ज्योतिराव फुले का पालन व शिक्षा

फुले जब एक वर्ष का बच्चा था उसकी माता चिमना बाई का निधन हो गया। गोविंद राव ने अपना दूसरा विवाह नहीं किया। धाय द्वारा बच्चे का पालन-पोषण हुआ।

संस्कृत पाठशालाएं व्यक्तिगत थीं जिनके प्रबंध एवं शिक्षण ब्राह्मणों के हाथों में थे। उनमें केवल ब्राह्मण के बच्चे पढ़ते थे। व्याकरण, तर्कशास्त्र, दर्शन आदि पढ़ाये जाते थे। देवनागरी लिपि का ज्ञान ब्राह्मण ही कर सकते थे। जमींदारों तथा व्यापारियों के बच्चों के लिए प्रारंभिक शिक्षा की व्यवस्था थी। पाठ्य-पुस्तकें हाथों से लिखी होती थीं। केवल व्यापार-धन्धे के लिए पढ़ाई होती थी। इतिहास, भूगोल आदि नहीं पढ़ाये जाते थे। पुस्तकों में देवी-देवताओं की महिमाएं लिखी होती थीं। ब्रिटिश-शासन आने पर 1836 ई० में गांवों में पाठशालाएं स्थापित होने लगीं। अंग्रेज शासकों को भारत के लोगों को अंग्रेजी पढ़ाना था क्योंकि उनसे उसमें काम करवाना था। साथ-साथ यूरोपीय साहित्य और विज्ञान का भी प्रचार करना था। और हिन्दी इसलिए पढ़ाना था कि उसमें अंग्रेज लोग विद्वान होकर हिन्दुस्तान पर शासन कर सकें। साथ-साथ जनता को भी शिक्षित करना उद्देश्य था। ''ब्रिटिश शासन ने 1821 ई० में पूना में हिन्दू कालेज खोला जिसे संस्कृत कालेज भी कहते थे, किन्तु उसमें केवल ब्राह्मण छात्र ही शिक्षा प्राप्त कर सकते थे।''[1]

ब्रिटिश-शासन ने इसाई मिशनरियों द्वारा पाठशालाएं चलवाई, उनमें अंग्रेजी का ज्ञान दिया जाने लगा। ब्राह्मण-समाज इससे कतराता था। यदि कोई ब्राह्मण बच्चा इंगलिश पढ़ने जाता था तो अन्य ब्राह्मण उसे हेय दृष्टि से देखते थे।

गोविंद राव ने अपने सात वर्षीय बच्चे ज्योतिराव फुले को मराठी पाठशाला में प्रवेश दिलाया। बच्चा मराठी भाषा में लिखने-पढ़ने लगा। गोविन्द राव के फूलों की दुकान पर एक ब्राह्मण लिपिक काम करता था, वह ज्योतिराव फुले को पढ़ने-लिखने से हतोत्साहित करता रहता था। ''उन्हीं दिनों एक बार ऐसा हुआ कि बंबई नैटिव एजुकेशन सोसाइटी के संकेत पर सोसाइटी के विद्यालयों से छोटी जाति के छात्रों को निकाल दिया गया। गोविंदराव ने उसी समय अपने ज्योति को विद्यालय से निकाल लिया।''[2] ज्योतिराव पिता की फुलवारी में काम

---

1. **महात्मा ज्योतिराव फुले, पृष्ठ 8, डॉ० व्रजलाल वर्मा, भावना प्रकाशन, 90 टैगोर टाउन, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण 1987 ई०।**
2. **महात्मा ज्योतिराव फुले, पृष्ठ 10।**

करने लगे। पिता ने परंपरागत पद्धति से बच्चे की तेरह वर्ष की उम्र में एक आठ वर्षीया कन्या से विवाह निश्चित कर दिया जिसका नाम सावित्री बाई था।

किशोर ज्योतिराव फुलवारी में काम करता, परंतु रात में दीपक के प्रकाश में पुस्तकें पढ़ता। बच्चे की लगन देखकर तथा मित्रों की भी सलाह से गोविंद राव ने उसे 1841 ई० में जब उसकी चौदह वर्ष की उम्र थी मिशन स्कूल में प्रवेश दिलाया।

ज्योतिराव फुले का एक सहपाठी मित्र ब्राह्मण का लड़का था जिसका नाम सदाशिव बल्लाल गोबंदे था। विद्या अध्ययन काल में थामसन्स लिखित 'मानव अधिकार' नाम पुस्तक पढ़कर दोनों मित्र बहुत प्रभावित हुए। ज्योतिराव और सदाशिव दूसरे लोगों को भी अंधविश्वास एवं गलत रूढ़ियों से बचने की प्रेरणा देते रहते थे। ज्योतिराव ने सन् 1847 ई० में मिशन स्कूल की शिक्षा पूरी कर ली।

4. ज्योतिराव फुले का अपमान

ज्योतिराव के एक ब्राह्मण मित्र का विवाह था। उसने उन्हें निमंत्रित किया था। बरात में ज्योतिराव ब्राह्मणों के साथ चल रहे थे। एक ब्राह्मण ने उन्हें पहचान लिया और कहा कि शूद्र होकर तुम्हें हम लोगों के साथ चलने की हिम्मत कैसे हुई? उसने ज्योतिराव को बहुत फटकारा। ज्योतिराव दुखी होकर बरात से लौट आये और उन्होंने सारी बातें पिता से कहीं। पिता ने कहा कि बेटा! वर्णव्यवस्था के अनुसार ब्राह्मण बड़े होते हैं। हम शूद्र उनकी बराबरी नहीं कर सकते। ब्राह्मणों की यही बड़ी कृपा थी कि तुम्हें मारा-पीटा नहीं।

पिता सामाजिक नियमों का उल्लंघन करके ब्राह्मणों का कोपभाजन नहीं बनना चाहते थे। परंतु ज्योतिराव को चैन नहीं मिला। उनकी वह रात बिना नींद के कट गयी। उनके मानसचक्षु के सामने शिवाजी, वाशिंगटन तथा लूथर के आदर्श झूल रहे थे।

5. ज्योतिराव फुले की क्रांति

यूरोपियन शिक्षा ने महाराष्ट्र के उच्च घराने के कुछ युवकों को स्वतंत्र चिंतन करने के लिए प्रेरित किया और वे हिन्दू समाज को ऊंच-नीच की भावना तथा अनेक गलत रूढ़ियों से ऊपर उठाने के लिए प्रयत्नवान हो गये। उनमें प्रो० बालशास्त्री जाम्भेकर, माऊ महाजन, दबोबा, गोपाल हरि आदि के नाम प्रमुख है।[1] इन स्वतन्त्र चिंतकों के प्रभाव को देखकर रूढ़िवादी ब्राह्मण बौखला गये।

---

1. म० ज्यो० फुले, पृष्ठ 16।

ज्योतिराव फुले के अभिन्न ब्राह्मण मित्र सदाशिव बल्लाल गोबंदे की बदली हो गयी और वे पूना से अहमदनगर चले गये जिससे ज्योतिराव फुले अकेले पड़ गये, परन्तु उन्होंने अपनी इक्कीस (21) वर्ष की उम्र में सामाजिक विषमता दूर करने के लिए कार्यक्रम बनाना शुरू किया।

ज्योतिराव ने एक बालिका विद्यालय की स्थापना की। उसमें प्राय: तथाकथित छोटी जाति की बालिकाएं शिक्षा ग्रहण करने लगीं। ज्योतिराव ने मनुस्मृति की उन मान्यताओं का खंडन शुरू कर दिया जिनमें मानवता के बीच में खाई बनायी गयी है और अधिकतर शूद्र कहे जाने वाले लोगों का अत्यन्त तिरस्कार किया गया है। ज्योतिराव ने निम्न कहे जाने वाले बंधुओं को संबोधित करके उन्हें साहस दिया कि तुम लोग मेरी बातों पर ध्यान दो, वर्णाभिमानियों से मत डरो, शिक्षित बनो, पुरोहितों की धूर्तता को समझो, स्मृतियों की भेदभावपरक व्यवस्थाओं को कोटिश: धिक्कार है।

व्यवस्थावादी एवं परम्परावादी तथाकथित ब्राह्मण समाज क्षुब्ध हो गया। उसने समझा कि हमारा धर्म खतरे में है, ज्योतिराव तुच्छ जाति का है, हमारा शत्रु है, आज हमारा हिन्दू राज्य नहीं है, ब्रिटिश-राज्य है, अन्यथा हम ज्योतिराव को नियमानुसार हाथी के पैरों तले कुचलवा देते।

परम्परावादी ब्राह्मणों ने ज्योतिराव को संदेश दिलवाया कि वह अपना यह विनाशकारी रवैया समाप्त करे, अन्यथा इसका परिणाम भयंकर होगा, किन्तु ज्योतिराव कोई आस्थाहीन व्यक्ति नहीं थे। वे खीरा नहीं थे कि जरा-सी चोट में टूट जायें किन्तु हीरा थे जो घन से भी न टूटे।

ज्योतिराव के विद्यालय में पढ़ाने के लिए जो अध्यापक लगे थे ब्राह्मणों के डर से खिसक गये। ज्योतिराव ने अपनी पत्नी सावित्री बाई को अध्यापन में लगाया। जब वे पाठशाला में पढ़ाने जातीं तब उन पर गुंडे धूल-कंकड़ तथा कीचड़ फेंकते, कभी-कभी रास्ता रोककर खड़े हो जाते। इसके उत्तर में सावित्री बाई इतना ही कहतीं—भगवान तुम्हें क्षमा करे और सुखी रखे।

ब्रिटिश-राज्य के पहले कोई स्त्री अध्यापन नहीं कर सकती थी। परंपरावादी ब्राह्मण समझते थे कि यह धर्म का नाश है।

6. ज्योतिराव फुले का घर से निष्कासन

रूढ़िवादी ब्राह्मणों की मंडली में बैठक हुई और विचार तय हुआ कि ज्योतिराव के पिता को सावधान कर दिया जाय। ब्राह्मणों ने ज्योतिराव फुले के पिता से कहा कि तुम अपने इस छोकरे को धर्मविरुद्ध कार्य से रोको। यह हिन्दू धर्म का कलंक हो रहा है। उसकी पत्नी भी वैसे ही निर्लज्ज है। तुम भगवान के कोपभाजन न बनो। इस कार्य से उसे रोक दो और यदि तुम्हारी बात न माने तो अपने घर से निकाल दो।

गोविंदराव घबरा गये। ब्राह्मणों से लोहा लेना उन्हें असंभव लगा। उन्हें अपने अंतरात्मा के विरुद्ध कार्य करना पड़ा। उन्होंने अपने पुत्र ज्योतिराव फुले को बुलाकर कहा कि तुम पाठशाला बंद कर दो या घर से निकल जाओ। ज्योतिराव के लिए यह वज्रपात था। उन्होंने अपना उद्देश्य पिता को समझाना चाहा, परंतु पिता उच्चवर्ग के कहे जाने वाले लोगों से भयभीत थे, इसलिए अपने निर्णय पर अटल रहे। पिता-पुत्र दोनों कुछ समय मौन तथा स्तब्ध रहे। ज्योतिराव पाठशाला बंद करने के पक्ष में नहीं थे। पिता ने कहा—घर से निकल जाओ, और अपनी पत्नी को भी साथ ले जाओ। अंततः विवश होकर ज्योतिराव फुले ने अपनी पत्नी को साथ लेकर घर छोड़ दिया। ज्योतिराव फुले ने अपनी पुस्तक में लिखा है—''मेरे पिता जी ने जब देखा कि मेरे द्वारा छोटी जातियों की शिक्षा देने से कहीं समाज के उच्च वर्ण के लोग माली जाति के लोगों से रुष्ट न हो जायें, तो मुझे घर से निकाल दिया और मुझे मेरे भाग्य पर छोड़ दिया। अतः स्कूल बंद कर दिया और मैं जीवनयापन के लिए व्यवसाय में लग गया।''[1]

7. पुनः विद्यालय स्थापन

ज्योतिराव तथा सावित्री बाई दंपती घर से निकल गये, परंतु निम्न कही जाने वाली जाति के बच्चों को पढ़ाने की योजना मन में बनी रही। सावित्री बाई बच्चों को पढ़ाने के लिए स्वयं पढ़ने लगीं। थोड़े दिनों में ज्योतिराव ने पुनः एक विद्यालय खोलना चाहा, परन्तु उन्हें विद्यालय चलाने के लिए कोई भवन किराये पर नहीं मिल रहा था, तो उनके ब्राह्मण मित्र सदाशिव बल्लाल गोबंदे ने जूनागंज में एक मकान की व्यवस्था कर दी। विद्यालय चलने लगा और ज्योतिराव तथा उनकी पत्नी सावित्री बाई पढ़ाने लगीं। उनके सहयोग में विष्णु पांत घाटे नाम के एक ब्राह्मण ने पढ़ाना आरम्भ किया। एक ब्राह्मण ने विद्यालय भवन की व्यवस्था की तथा दूसरे ब्राह्मण ने उसमें पढ़ाना शुरू किया, यह जान तथा देखकर रूढ़िवादी ब्राह्मण उद्विग्न हो गये।

''दो वर्षों तक शिक्षा के क्षेत्र में कार्य करने के पश्चात ज्योतिराव ने 3 जुलाई, 1851 ई० को एक दूसरा विद्यालय पूना के अन्ना साहेब चिपलूणकर भवन में खोला जो पूना के बुधवार पेठ मुहल्ले में स्थित था।''[2] ज्योतिराव ने विद्यालय को सुव्यवस्थित चलाने के लिए एक प्रबंध समिति का गठन किया। उसमें सरकारी तथा गैरसरकारी व्यक्ति सम्मिलित हुए। अन्ना सहस्त्र बुद्धे ने भी इसमें भाग लिया।

---

1. **म० ज्यो० फुले, पृष्ठ 20।**
2. **म० ज्यो० फुले, पृष्ठ 22।**

विद्यालय की प्रधानाचार्य सावित्री बाई थी। प्रबंध समिति की सम्मति बिना विद्यालय में किसी छात्र का प्रवेश नहीं होता था। इसके बाद ज्योतिराव ने तीसरा तथा चौथा विद्यालय भी खोला। इसाई मिशनरियों ने इन विद्यालयों की बड़ी प्रशंसा की। ज्योतिराव के अदम्य साहस एवं सेवा-भावना के फलस्वरूप उनको समाजसेवियों के बीच प्रथम स्थान मिला। उनकी नीतियों, विचारों तथा दृढ़ता से प्रभावित होकर कतिपय ब्राह्मणों ने स्वयं सामाजिक विषमताओं को दूर करने में सहयोग देना प्रारंभ कर दिया। इतना ही नहीं, सुधारवादी ब्राह्मणों तथा रूढ़िवादी ब्राह्मणों में हलका-हलका संघर्ष उत्पन्न हो गया।

8. ब्राह्मण-दक्षिणा और उसमें परिवर्तन

शिवाजी ने सन् 1674 ई० में अपने राजतिलक के समय से ब्राह्मणों को दक्षिणा दिलवाना आरंभ किया था। इसके बाद उनके पुत्र सांभा जी तथा राजाराम ने यह परिपाटी चालू रखी। इसके बाद शिवाजी के पौत्र शाहूजी ने यह दक्षिणा देने का दायित्व अपने सेनापति को सौंप दिया। अतएव यह ब्राह्मण-दक्षिणा महाराष्ट्र में कानून-सा बन गयी। पेशवा माधवराव ने यह दक्षिणा गरीब, असहाय तथा विकलांग ब्राह्मणों के लिए नियुक्त कर दिया। यह दक्षिणा श्रावण महीने में दी जाती थी। पेशवा बाजीराव ने यह दक्षिणा ब्राह्मणों तथा उनके शालग्राम[1] भगवान दोनों के लिए नियुक्त किया। शालग्राम पर चढ़ाई दक्षिणा भी अंत में ब्राह्मणों की ही होती थी। जब शालग्राम-पत्थर की कमी हो जाती थी तब घोड़े की लीद से बटिया बनाकर तथा भेद खुलने के डर से उसे फूल-पत्तियों से ढककर ब्राह्मण लोग राजपुरुषों से पुजवा लेते थे। बाजीराव पेशवा अपने अनजाने में लीद के इन शालग्रामों को भी पूजता तथा प्रणाम करता था।

जब ब्रिटिश-शासन आया तब उसने यह दक्षिणा केवल सुयोग्य ब्राह्मणों तक सीमित कर दिया। पीछे यह दक्षिणा नाम मात्र की रह गयी, प्रत्युत इसका धन ब्रिटिश-शासन ने पूना के हिन्दू कालेज के विकास के लिए नियुक्त कर दिया जिसकी स्थापना ब्रिटिश-शासन ने ही की थी। इस कालेज में केवल ब्राह्मणों के ही लड़के पढ़ते थे। अंग्रेज लोगों को भारत में राज करना था। वे मनोविज्ञान से काम लेते थे। पूना में ब्राह्मणों का वर्चस्व था। अंग्रेज उन्हें असंतुष्ट नहीं करना चाहते थे।

लोकहितवादी गोपाल राव देशमुख ने सन् 1849 ई० में इस दक्षिणा का घोर विरोध किया और 39 प्रभावशाली व्यक्तियों के हस्ताक्षर कराकर बंबई के

---

1. **गंडक नदी के किनारे बसे हुए एक ग्राम को शालग्राम कहते हैं और इस नदी के काले पत्थर की जलप्रवाह से घिसी बटिया को शालग्राम कहते हैं। इस पत्थर को वैष्णव तथा ब्राह्मण शालग्राम भगवान कहकर पूजते हैं।**

गवर्नर के पास प्रार्थना-पत्र भेजा। रूढ़िवादी ब्राह्मणों ने प्रार्थना-पत्र तथा उसके हस्ताक्षरकर्ताओं का विरोध किया। ज्योतिराव फुले इस प्रार्थना-पत्र के समर्थक थे। उन्होंने गोपाल राव देशमुख के संरक्षण में उस दिन दो सौ स्वयंसेवकों को भेजा जिस दिन इस पर निर्णय होना था। अंततः सरकार ने इस प्रार्थना-पत्र को स्वीकार लिया, क्योंकि यह स्वाभाविक था। रूढ़िवादी ब्राह्मण हार गये। उनको सरकारी दक्षिणा मिलना बंद हो गयी। और उस धन में आधा संस्कृत पढ़ने वाले ब्राह्मणों के बच्चों को तथा आधा मराठी पढ़ने वाले सभी वर्ग के बच्चों को वितरित किया जाने लगा। इसकी प्रशंसा सब तरफ से हुई। रूढ़िवादी ब्राह्मण इससे क्षुब्ध हुए, परंतु उदार और विचारशील ब्राह्मणों ने उसकी भूरि-भूरि प्रशंसा की। एक बल्लाचार्य नामक ब्राह्मण ने जो सरकारी कर्मचारी थे जिनका वेतन कुल बारह रुपये था, एक मास का वेतन ज्योतिराव फुले के विद्यालय में दान कर दिया। ज्योतिराव अपने विद्यालयों के लिए धनियों, दाताओं तथा यूरोपियन व्यापारियों और अधिकारियों से धन संग्रह करते थे। बीच में एक समस्या आयी तथाकथित छोटी जाति की बालिकाएं बालकों के साथ बैठकर नहीं पढ़ना चाहती थीं। ज्योतिराव ने बालक तथा बालिकाओं का विद्यालय अलग-अलग करके उसका समाधान कर दिया। ज्योतिराव के विद्यालयों में महार, भांग, डेढ़ तथा चमार कही जाने वाली जातियों की संतानें पढ़ती थीं।

"बाजीराव पेशवा द्वितीय शूद्रों की शिक्षा का नाम सुनकर क्रुद्ध हो जाता था। उसका कहना था कि यदि लिखने-पढ़ने का काम शूद्र करेंगे तो ब्राह्मण क्या बाल बनायेंगे!"[1] भांग जाति की एक चौदह वर्ष की बालिका-छात्रा ने शूद्र कहे जाने वाले वर्ग की अवदशा का चित्रण करते हुए एक लेख लिखा था। उसमें उसने पूछा था कि यदि वेद केवल ब्राह्मणों के धर्मग्रंथ हैं तो छोटी कही जाने वाली जातियों के धर्मग्रंथ कौन हैं? क्या ईश्वर ने उनके लिए धर्म और धर्मग्रन्थ नहीं दिये? बालिका ने अपने निबंध के उपसंहार में लिखा था— "भगवान की अतिशय कृपा थी कि उसने हमारे लिए ब्रिटिश-शासन भेज दिया। अब हमको न तो कोई मार सकता है न पढ़ने से रोक सकता है, और न जीवित पृथ्वी में गाड़ सकता है। अब हम ठीक से वस्त्र पहन सकते हैं, कोई प्रतिबंध नहीं, कोई निषेध नहीं। अब हम बाजारों में खुले घूम सकते हैं।"[2]

9. ज्योतिराव को शाल भेंट

ज्योतिराव फुले की सुकीर्ति सर्वत्र फैल रही थी। उदार व्यक्तियों के समाज ने पूना के पेशवाओं के राजभवन में ज्योतिराव फुले के सम्मान में एक सभा

---

1. मा० ज्यो० फुले, पृष्ठ 28।
2. म० ज्यो० फुले, पृष्ठ 28।

का आयोजन किया। उसमें उनका सम्मान करना था तथा उन्हें दो सौ रुपये का शाल भेंट करना था। शिक्षा बोर्ड ने सरकार से प्रार्थना की कि वह फुले जी को सम्मानित करने की आज्ञा दे। सरकार ने भी स्वीकार किया। राजभवन में आयोजन हुआ। उस समय ज्योतिराव पचीस वर्ष के नवयुवक थे। समाज ने दो सौ रुपये का शाल ज्योतिराव के सम्मान में उन्हें समर्पित किया। और शिक्षा बोर्ड ने भी दो शाल समर्पित किये। संभ्रांत भारतीय लोग तथा कुछ यूरोपियन भी सभा में उपस्थित थे। अखबार वालों ने इसका विवरण छापा, परंतु रूढ़िवादी ब्राह्मणों ने इसे अपना अपमान समझा। दो सौ रुपये का शाल और फिर राजभवन में देना। देना था तो दस-पांच रुपये का शाल किसी गली-खोंची में आयोजन करके दे देना चाहिए था। शूद्र का इतना सम्मान! कलियुग विकराल है! यह रूढ़िवादी ब्राह्मणों की धारणा थी।

10. संस्कृत कालेज में सभी हिन्दुओं को पढ़ने की छूट

जनता की भावना और उदार ब्राह्मणों की राय से सरकार ने पूना के हिन्दू संस्कृत कालेज में पूरे हिन्दू समाज के बच्चों को पढ़ने के लिए स्वीकृति दे दी। इस पर रूढ़िवादी ब्राह्मण बहुत क्रुद्ध हुए। हिन्दू संस्कृत कालेज के प्राचार्य मेजर कैंडी थे। पंडितों ने उनसे कहा कि शूद्रों को संस्कृत पढ़ाना सनातन धर्म के विरुद्ध है। प्राचार्य ने उनसे पुनर्विचार करने की राय दी। पंडितों ने कहा कि सोनार और प्रभु जाति के छात्रों को तो बिलकुल नहीं पढ़ाया जा सकता है। परन्तु देश में सर्वत्र स्कूल-कालेज खुल रहे थे और उसमें सभी जातियों के बच्चों को पढ़ाने की घोषणा थी, अतएव रूढ़िवादी ब्राह्मणों का झूठे धर्म का रोना निरर्थक था। उदार ब्राह्मण भी उनके साथ नहीं थे। विद्वान अंग्रेज पंडितों को वैदिक उदाहरण देकर समझाते थे कि वैदिक काल में लोपामुद्रा आदि नारियां विदुषी थीं तथा शूद्र कहे जाने वाले लोग वेदमंत्रों के रचयिता थे।

''प्रभाकर'' नामक पत्र के संपादक ने लिखा था कि पूना संस्कृत कालेज के पंडितों की यह नितांत मूर्खता एवं धृष्टता है। बंबई के सैकड़ों पंडित सोनारों, प्रभुओं तथा यूरोपियनों के घर जाकर संस्कृत पढ़ाते हैं। यदि पूना के पंडित सावधान न हुए तो उनको हटाकर पूना से बाहर के पंडित कम वेतन में पढ़ाने आ जायेंगे। उन्हें यह भी कहा गया कि पूना के पंडित ऋग्वेद लौटा दें, उसका प्रकाशन लंदन से किया जायेगा।

पूना के एक गंगाधर नाम के ब्राह्मण बंबई में पांच वर्षों तक यूरोपियनों को संस्कृत पढ़ाते रहे। जब वे पूना लौटे तो रूढ़िवादी ब्राह्मणों ने उनका तिरस्कार किया। अतएव वे उनसे ऊबकर संन्यासी हो गये।

19. ज्योतिराव फुले की हिन्दुत्व निष्ठा

पूरे भारत में अंग्रेजों का राज्य था। साथ-साथ इसाई मिशनरियां इसाइयत

का प्रचार करती थीं। इसाई-संप्रदाय में मानव मात्र के लिए द्वार खुला था, किन्तु हिन्दू-समाज में शूद्र तथा अतिशूद्र कहे जाने वाले हिंदुओं के लिए ही द्वार बंद था। अतएव अनेक शिक्षित-अशिक्षित हिन्दू, इसाई बन रहे थे। कुछ प्रलोभन में भी बन रहे थे।

ज्योतिराव फुले हिन्दुत्व में निष्ठावान थे। वे कहते थे कि हम जहां हैं उसमें जीवन भर रहकर उसकी त्रुटियों को सुधारेंगे। तथाकथित धर्मपरिवर्तन को वे कायरता मानते थे। कम-बेश बुराइयां अन्य संप्रदायों में भी हैं। इसाइयों की भी यह जड़ता है कि जो ईसा में विश्वास करेगा वही स्वर्ग पायेगा, शेष नरक में जायेंगे।

ज्योतिराव फुले हिन्दू शब्द का प्रयोग नहीं करते थे, परन्तु उपनयन संस्कार, विवाह संस्कार आदि वे अपनी देखरेख में हिन्दू पद्धति से कराते थे। कोई हिन्दू-समाज छोड़कर इसाई आदि बनना चाहे तो उसे ज्योतिराव समझाकर हिन्दू-समाज में ही रहने की राय देते थे। ज्योतिराव निर्गुण-निराकार ईश्वर में विश्वास करते थे। वर्णव्यवस्था के नाम पर ऊंच-नीच की भावना, छुआछूत, अंधविश्वास आदि को पुरोहितों की धूर्तता मानते थे। वे पाखंडपूर्ण कर्मकांड, मूर्तिपूजा, तीर्थ-व्रत आदि के विरोधी थे, नर-नारी को समान अधिकार दिलाने के पक्षधर थे और जाति-व्यवस्था को नहीं मानते थे। वे कहते थे मूल रूप में सब बराबर हैं। वे मांस, शराब, वेश्यागमन के विरोधी थे। वे कहते थे कि मनुष्य को एक पत्नीव्रती होना चाहिए। वे सांप, बिच्छू, जूं, चीलर तक को मारने से रोकते थे। वे कहते थे कि ईश्वर हमारी पहुंच के बाहर है। उसे पाने का हठ करना अज्ञान है, हमें मानव सेवा तथा प्राणिमात्र पर दया करना चाहिए। इसी में हमें शांति मिलेगी। वे शास्त्र-प्रमाण के विरोधी थे। वे कहते थे कि शास्त्रों की विवेकयुत बातें मानना चाहिए, शेष छोड़ देना चाहिए। सभी पुस्तकें मानव-रचित हैं। वे अवतारवाद नहीं मानते थे। वे श्रीराम तथा श्रीकृष्ण को मनुष्य तथा त्रुटिसहित बड़े पुरुष मानते थे। उन्होंने स्मृतियों के भेदभावपरक बातों का घोर विरोध किया था।

12. वे उदार ब्राह्मणों के प्रशंसक थे

''ज्योतिराव अपने वक्तव्यों में जहां सभी सहयोगियों की सराहना करते, उन ब्राह्मणों का भी सादर स्मरण करते थे जिन्होंने यत्किंचित भी सहायता की थी। ज्योतिराव के कुछ चुने हुए ब्राह्मण मित्र थे जो हर प्रकार का खतरा उठाकर भी ज्योतिराव का हृदय से खुला समर्थन करते थे। ज्योतिराव बीच-बीच में उन सबके प्रति अपनी ओर से सदैव कृतज्ञता ज्ञापित करते रहते थे। ज्योतिराव ने ऐसे सहयोगी ब्राह्मणों को अपने विद्यालयों की प्रबंधसमितियों में

सदस्य के रूप में रखा था।''[1]

ज्योतिराव फुले के बाद ज्योतिराव द्वारा संचालित समाज-सुधार संबंधी आंदोलनों के प्रमुख सूत्रधार केशवराव जेधे, दिनकरराव ज्वालकर ब्राह्मणों से सख्त नफरत करते थे। इन लोगों ने डॉ० बी० आर० अम्बेडकर से अनुरोध किया था कि अछूतोद्धार के आंदोलनों में जो भी ब्राह्मण शामिल हैं उनको वे अपने साथ से हटा दें, और ब्राह्मणों को अपने साथ में कभी न लें। अछूतोद्धार में प्रवृत्त नेताओं का यह परामर्श डॉ० अंबेडकर को तनिक भी नहीं रुचा। उन्होंने उनको बड़ी फटकार बतायी। सत्य शोधक समाज का उद्घाटन करते हुए गैर-ब्राह्मण नेताओं को फटकारते हुए डॉ० अंबेडकर ने कहा—समाज-सुधार अथवा अछूतोद्धार में लगे अ-ब्राह्मण नेताओं ने न केवल महात्मा ज्योतिराव फुले की कीर्ति को कलंकित किया है, प्रत्युत निर्लज्जतापूर्वक उनके दर्शन को भी नष्ट कर दिया है। सत्य शोधक समाज की विचारधारा को भारत के कोने-कोने में पहुंचाना चाहिए।[2]

13. ज्योतिराव की हत्या का प्रयास

कहा जाता है कि द्वेषी तथा प्रतिक्रियावादी ब्राह्मणों ने ज्योतिराव फुले की हत्या करने के लिए रोड़े तथा धोधीराव नामदेव नाम के दो व्यक्तियों को भेजा जो शूद्र कही जाने वाली जाति के थे। वे तलवार लेकर रात में ज्योतिराव के शयन-कक्ष के पास पहुंचे गये। ज्योतिराव को आहट मिली। वे शय्या पर बैठ गये और उन्हें अपने हत्यारे समझकर उन्होंने कहा कि गरीबों की सेवा में मेरा जीवन समर्पित है। यदि तुम लोगों का कल्याण मेरी हत्या से हो तो मेरा सिर सामने है।

वे दोनों स्तब्ध रह गये। कुछ क्षणों में ज्योतिराव के चरणों में गिरकर उन्होंने क्षमा मांगी और वे जीवन भर के लिए उनके अनुगामी हो गये। दोनों ने ज्योतिराव फुले के विद्यालय में शिक्षा ग्रहण की। रोड़े तो ज्योतिराव का अंगरक्षक बन गया तथा धोधीराव नामदेव पंडित बन गया। वह ज्योतिराव फुले द्वारा स्थापित 'सत्य शोधक समाज' का प्रमुख स्तंभ बना। उसने 'सत्य शोधक समाज वेदाचार' नाम की पुस्तक लिखी जो प्रकाशित हुई और सम्मानित हुई।

14. सन् 1857 ई० का सेना-विद्रोह

सन् 1857 ई० में उत्तरी भारत में सेना का ब्रिटिश-शासन के प्रति विद्रोह हुआ। ब्रिटिश-शासन अंग्रेज सिपाहियों को जो सुविधा, पदोन्नति आदि देती थी

---

1. म० ज्यो० फुले, पृष्ठ 45।
2. म० ज्यो० फुले, पृष्ठ 201।

भारतीयों के लिए दुर्लभ थी। इसी बीच एक बात की सेना में अफवाह उड़ी कि कारतूसों पर गाय और सूअर की चर्बी लगी रहती है जिससे हिन्दू और मुसलमान, दोनों सैनिक भड़क उठे। असंतोष की आग पहले से ही सुलग रही थी। अंततः 10 मई, 1857 ई० में मेरठ में सेना के सिपाहियों ने कारतूस के प्रयोग करने से इन्कार कर दिया। इसके फलस्वरूप सेना के सिपाहियों को दंड दिया गया। इससे सेना भड़क गयी। उसने कुछ अंग्रेज अफसरों की हत्या कर दिल्ली की तरफ कूच कर दिया और लाल किले पर कब्जा कर लिया। इसमें हिन्दू-मुसलमान मिलकर अंग्रेजी-शासन को समाप्त करने पर आमादा हो गये। बनारस, इलाहाबाद, बरेली, लखनऊ, कानपुर, पटना आदि में अंग्रेजों के विरुद्ध भावना भड़क उठी। अंग्रेजों द्वारा शासन-सूत्र से अपदस्थ किये गये बहादुर शाह द्वितीय को भारत का शासक घोषित किया गया। कानपुर के पास बिठूर में रहने वाले बाजीराव पेशवा द्वितीय की 1853 ई० में मृत्यु होने के बाद उनके दत्तक पुत्र नाना साहेब को पेंशन देने से ब्रिटिश-शासन ने इन्कार कर दिया था। इसलिए नाना साहेब भी अंग्रेजी-शासन से क्रुद्ध थे। उन्होंने भी अंग्रेजी-शासन उखाड़ने के लिए इस विद्रोह में भाग लिया।[1]

अंततः विद्रोही सिपाहियों का कोई कुशल नेता न होने से तथा निजाम हैदराबाद के मंत्री सर सालारगंज की उदासीनता, सिक्खों की तटस्थता तथा नेपाल राज्य का विद्रोहियों के साथ द्वेषभाव होने से विद्रोह निष्फल हुआ।[2] अंग्रेजों ने दिल्ली से लेकर पटना तक जो रक्तपात और लूट-फूंक किया उससे नादिरशाह की क्रूरता भी फीकी पड़ गयी। ऐसा भाव विचारक अंग्रेजों ने ही इतिहास में व्यक्त किया है। इसको लेकर ब्रिटिश शासन ने कितने क्रूर अंग्रेज अफसरों को उनके पद से हटा दिया। विद्रोह असफल होने पर नाना साहेब को अंग्रेज पकड़ नहीं पाये। उन्होंने कहीं अज्ञातवास में शरीरांत किया।

15. ज्योतिराव फुले का विद्रोह तथा स्वतन्त्रता के प्रति दृष्टिकोण

ज्योतिराव फुले उक्त विद्रोह से दुखी थे। वे देशभक्त थे, इसलिए भारतीयों के दमन से भी दुखी थे। ज्योतिराव मानते थे कि जातिभेद तथा वर्णभेद के गर्हित व्यवहार ने ही भारत को गुलाम बनाया है। ब्रिटिश-शासन में शूद्र कहे जाने वाले लोगों को खुला वातावरण मिलना शुरू हुआ है। उन्हें भी मनुष्य माना जाने लगा है। अंग्रेज चाहे जिस दृष्टि से सही शूद्रों के प्रति भी हमदर्द हैं। सामाजिक गुलामी की अपेक्षा राजनीतिक गुलामी सहने योग्य है। इन विचारों से ज्योतिराव फुले ने उक्त विद्रोह में भाग नहीं लिया।

---

1. **भारत का इतिहास, पृष्ठ 434, प्रगति प्रकाशन मास्को, 1981।**
2. **म० ज्यो० फुले, पृष्ठ 53-54।**

''ज्योतिराव तो चाहते थे कि जिस ब्रिटिश शासन ने भारत में मानव-मानव के भेद को मिटाने में सहायता की है, छोटी जातियों को शिक्षा तथा नौकरियों की व्यवस्था की है तथा कानून के माध्यम से मानवीय समानता स्थापित करने की चेष्टा की है, वह यहां बहुत दिन तक चले।''[1]

1885 ई० में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना हुई थी। ज्योतिराव कांग्रेस पर विश्वास नहीं करते थे। वे समझते थे कि इसमें भी ब्राह्मण और बनिया का बोलबाला है। यदि अंग्रेज गये और भारत स्वतन्त्र हुआ तो पुन: ब्राह्मणवाद का बोलबाला हो सकता है और भारत की शूद्र तथा अतिशूद्र कही जाने वाली जनता पशु से भी अधिक उपेक्षित हो सकती है। ''ज्योतिराव का कथन था कि जब ब्राह्मण अंग्रेज अधिकारियों के साथ बैठकर अंडे, शराब, गोश्त आदि खाते-पीते हैं और मुसलिम रखैल स्त्रियों से संबंध रखते हैं तो उनकी मांगों और महारों के साथ स्नेहपूर्वक भोजन करने में क्या आपत्ति है।''[2]

एक विधवा ब्राह्मणी से पैदा हुए यशवंत नाम के बच्चे को अपना दत्तक पुत्र स्वीकार कर ज्योतिराव फुले ने अपने वसीयतनामे में लिखा था—''मेरी यशवंत से यह भी अपेक्षा है कि अपना संपूर्ण जीवन शूद्र और अतिशूद्रों को समझाये कि उनके क्या-क्या मानवीय अधिकार हैं तथा उनको ब्राह्मणों की गुलामी से मुक्त कराये। अपनी शक्ति भर ब्रिटिश-शासन के साथ हर प्रकार का सहयोग करे इसलिए कि मेरा ध्रुव विश्वास है कि ब्रिटिश-सरकार शूद्रों की रक्षक है।''[3]

उक्त वर्णनों से ज्योतिराव की देशभक्ति पर संदेह करने की आवश्यकता नहीं है। ''उन दिनों कांग्रेस कुछ शहरों के उच्च श्रेणी के लोगों का आंदोलन था। ज्योतिराव को भय था कि यदि कांग्रेस अपने उद्देश्यों में सफल हुई तो वह उन्हीं लोगों के हितों पर ध्यान देगी।''[4]

वर्णव्यवस्था कभी केवल काम का बटवारा रही होगी और सभी मानव में समानता रही होगी, परन्तु जो अनुभव का विषय है वह यह है कि इसने भारतीय समाज को तोड़कर रख दिया है। ब्राह्मण-पुरोहितों ने क्षत्रियों से कहा कि तुम केवल हमसे छोटे हो, किन्तु वैश्य और शूद्र से बड़े हो। हम तुम्हारा उद्धार करेंगे, तुम्हारे शासन की भी रक्षा करेंगे। उन्होंने वैश्यों से कहा कि तुम शूद्र तथा अतिशूद्रों से बड़े हो, और शूद्रों से कहा कि तुम अतिशूद्र से बड़े हो। उन्होंने अतिशूद्रों से कहा कि तुम चिंता क्यों करते हो! ब्राह्मणों, क्षत्रियों तथा

---

1. म० ज्यो० फुले, पृष्ठ 158।
2. वही, पृष्ठ 159।
3. वही, पृष्ठ 165।
4. वही, पृष्ठ 159।

वैश्यों को नाना विधि-निषेध की झंझट है, तुम्हें कुछ नहीं है। तुम जैसा चाहो रहो; बस, अन्य तीन वर्णों की सेवा करके मुक्त हो जाओगे। इस प्रकार की भेद-नीति ने समाज को तोड़ा।

मानव मात्र मौलिक रूप में समान है, इसमें कोई छूत-अछूत नहीं, सबके साथ उत्तम व्यवहार करना चाहिए, जिसकी जैसी शक्ति होती है वह उस क्षेत्र में विकास करता है, इस उत्तम विचार का वर्णव्यवस्था में स्थान ही नहीं है।

ज्योतिराव को डर था कि अंग्रेज भारत से कहीं शीघ्र इंग्लैण्ड लौट गये तो भारत में निम्नवर्ग की गुलामी पूर्ववत बनी रह सकती है। उस समय की कांग्रेस से समानता की आशा नहीं की जा सकती थी। यह तो जब बीसवीं सदी के दूसरे दशक में महात्मा गांधी कांग्रेस में सक्रिय रूप से सम्मिलित हुए हैं तब उन्होंने राजनीतिक स्वतन्त्रता के साथ-साथ सामाजिक स्वतन्त्रता एवं समानता का प्रयोग कांग्रेस में आरंभ किया है। भारत स्वतंत्र होता और वह केवल ब्राह्मण, क्षत्रिय और बनियों के लिए होता, शेष विशाल जनता जिनका नाम शूद्र तथा अतिशूद्र रखा गया था, वह पशु से भी अधिक उपेक्षित रहती तो स्वतन्त्रता का क्या प्रयोजन होता। यह अलग बात है कि इस विकासशील वैज्ञानिक युग में इस अंधकार का नाश होना ही था।

16. समाज-सुधार का दिशापरिवर्तन

ज्योतिराव द्वारा संचालित गरीब छात्रों के पढ़ने के लिए तीन विद्यालय चल रहे थे। धनाभाव से उन विद्यालयों की दशा गिरने लगी। एक विद्यालय म्यूनिसिपैलिटी को दे दिया गया। दो विद्यालय चलते रहे। विद्यालयों की प्रबंध-समिति के सदस्यों से ज्योतिराव का मतभेद हो गया, अत: वे प्रबंध-समिति से हट गये। उन्होंने देखा कि अब तो बालिकाओं तथा गरीबों के बच्चों को पढ़ने के लिए पूरे महाराष्ट्र तथा देश में सरकारी विद्यालय खुलते जा रहे हैं, अत: उन्होंने समाजक्रांति की दिशा मोड़ दी।

भारत में पहले सती प्रथा थी। सवर्णों में स्त्री के मरने पर पुरुष तत्काल दूसरा विवाह कर सकता था, परंतु पुरुष के मरने पर स्त्री को उसकी लाश के साथ जल जाना चाहिए यह मान्यता थी। "1815 ई० से 1828 ई० तक पटना, बरेली और बनारस डिवीजनों में सतियों की संख्या क्रमश: 708, 193 तथा 1165 थी, किंतु कलकत्ता डिवीजन में यह संख्या 5099 थी।"[1] बंगाल के महामनीषी "राजा राममोहन राय ने अपनी भाभी को जबर्दस्ती सती किये जाने का दारुण दृश्य देखा था।"[2] अतएव उन्होंने इसके विरोध में आंदोलन

---

1. **हिन्दू विवाह का संक्षिप्त इतिहास, पृष्ठ 368, हिन्दी संस्थान, लखनऊ।**
2. **वही, पृष्ठ 159।**

किया था। रूढ़िवादियों ने इसका विरोध किया था, परंतु राजा राममोहन राय ब्रिटिश शासन से 1829 ई० में कानूनन सतीप्रथा बंद करवाने में सफल हुए थे। इसी प्रकार बंगाल के महापुरुष ईश्वरचंद्र विद्यासागर ने विधवाओं की करुण दशा से पीड़ित होकर आंदोलन किया था और उन्होंने रूढ़िवादियों से कठिन लोहा लेने के बाद काशी के उदार पंडितों का सहयोग पाकर ब्रिटिश-शासन से 25 जुलाई, 1856 ई० में विधवा विवाह कानून पास करवाया था।

महाराष्ट्र में भी विधवाओं की करुण कथा थी। ज्योतिराव ने 8 मार्च, 1860 ई० को एक विधवा का अपनी देखरेख में विवाह करवाया। आगे उन्होंने योजना बनायी कि एक इस प्रकार की शिशु-पोषण-शाला स्थापित की जाये जहां गर्भवती विधवाएं चुपचाप प्रसव कर सकें। विधवाओं को इसकी सूचना देने के लिए पर्चे छापकर बांटे गये। इससे रूढ़िवादी ब्राह्मण बहुत क्रुद्ध हुए। परंतु यह बहुत-सी भूली-भटकी विधवाओं के शिशुओं की रक्षक हुई। इसमें बहुधा ब्राह्मणी तरुणी विधवा ही अपना सिर छिपाने आती थीं, क्योंकि ब्राह्मणों में विधवा विवाह नहीं होता था। इसी शिशु-पोषण-शाला में काशी बाई नाम की विधवा ब्राह्मणी ने एक शिशु का प्रसव किया था जिसे ज्योतिराव दोनों प्राणियों ने पालकर अपना दत्तक पुत्र बनाया था। उसका नाम रखा था यशवंत। ज्योतिराव को कोई निजी पुत्र नहीं था। अत: यशवंत ही उनका उत्तराधिकारी हुआ।

17. व्यवसाय

ज्योतिराव ने अनुभव किया कि जीवन-निर्वाह के लिए स्वावलम्बी होना आवश्यक है, अत: उन्होंने टैंक बनाने की ठेकेदारी ली, उसके बाद गद्दे की एजेंसी ली। ठेकेदारी के समय में उन्होंने अनुभव किया कि किस तरह इंजीनियर ठेकेदारों तथा मजदूरों को ठगते हैं और फिर ठेकेदार भी उसमें सहभागी बनते हैं।

ज्योतिराव फुले पिता द्वारा घर से निष्कासित थे, पीछे पैतृक संपत्ति में चाचा से विवाद होने पर उससे भी वंचित थे, नि:संतान थे, बड़े स्तर के कहलाने वाले एक बड़े समुदाय से तिरस्कृत थे, कुछ मित्रों द्वारा प्रवंचित थे, परंतु इसके बीच में वे गरीब जनता की सेवा में समर्पित कुंदन की तरह चमक रहे थे।

18. सत्यशोधक समाज

ज्योतिराव अभी तक पर्चों, पुस्तकों तथा भाषणों से सामाजिक स्वतन्त्रता, समता और समान व्यवहार का प्रचार करते रहे साथ-साथ अंधविश्वास, कर्मकांड आदि पर प्रहार करते रहे। उन्होंने पूना में 24 सितम्बर, 1873 ई०

में एक सभा का आयोजन किया जिसमें उनके सभी मित्र तथा अनुगामी इकट्ठे हुए। उसी बीच में उन्होंने 'सत्यशोधक समाज' नाम की संस्था का स्थापन किया। ''यह स्मरण रखना होगा कि ज्योतिराव के तीन ब्राह्मण मित्र विनायक बापू जी भंडारकर, विनायक बापू जी डेंगल तथा सीताराम सखाराम दातार ऐसे थे जिन्होंने सत्य शोधक समाज को हर प्रकार का सहयोग देने का वचन दिया। ज्योतिराव को संस्था का पहला अध्यक्ष चुना गया तथा नानाराव गोविंद राव कडलक को उसका मंत्री। सत्यशोधक समाज के उद्देश्य भी निर्धारित किये गये जिनमें मुख्य थे शूद्रों तथा अतिशूद्रों के द्वारा ब्राह्मणों की पौराणिक मान्यताओं का विरोध करना, उनको ब्राह्मणों की मक्कारी के जाल से मुक्त करना, पुराणोपदिष्ट जन्मजात जातीय गुलामी से छुटकारा दिलाना, छोटे एवं गरीब लोगों तथा उनके परिवारों को शिक्षित करना तथा अंधविश्वासों के प्रति उनको सावधान करना। संस्था के सदस्यों को खांडेराव देव के नाम से इस बात की शपथ लेनी पड़ती थी कि यह ब्रिटिश-शासन के प्रति स्वामिभक्ति रखेगा।[1]

राजा राममोहन राय का ब्राह्मसमाज, स्वामी दयानंद सरस्वती का आर्यसमाज तथा ज्योतिराव फुले का सत्यशोधक समाज इसी युग की देन हैं। तीनों मूर्तिपूजा के विरोधी थे।

सत्यशोधक समाज महाराष्ट्र में अपना काम करता रहा और उससे निम्न कहे जाने वाले एक विशाल समाज को बड़ा शंबल मिला।

19. महात्मा की उपाधि, साथ कुछ कुदिन

ज्योतिराव फुले के अनुगामियों, मित्रों एवं प्रशंसकों ने मांडवी के कोलीबाड़ा हाल में 11 मई, सन् 1888 ई० में एक विशाल सभा का आयोजन किया, जिसमें ज्योतिराव को सर्वसम्मति से महात्मा की उपाधि दी गयी।

ज्योतिराव फुले को अपने दत्तक पुत्र यशवंत की जिसकी उम्र सोलह वर्ष की थी, रूढ़ि के अनुसार एक ग्यारह वर्ष की लड़की से विवाह तय करना पड़ा। जो बाल-विवाह का विरोधी था उसे बाल-विवाह करना पड़ा।

इसी समय ज्योतिराव के कुछ अभिन्न सहयोगी मित्र उनसे असंतुष्ट होकर अलग हो गये। 1888 ई० को जुलाई में ज्योतिराव के दायें अंग को पक्षाघात हो गया। उनके अनेक मित्र उसकी चिकित्सा कराने में लगे रहे, परंतु सफलता नहीं मिली। इसी बीच अनुगामियों की प्रार्थना पर उन्होंने बिस्तर पर पड़े-पड़े सत्य शोधक समाज के नियमानुसार धार्मिक अनुष्ठानों, विवाह संस्कारों तथा मृतक क्रियाओं के संबंध में बायें हाथ से एक पुस्तक लिखी। 1888 ई० में दिसम्बर महीने में ज्योतिराव पुनः रुग्ण हो गये। 1889 ई० के फरवरी महीने

---

1. **वही, पृष्ठ 95।**

में उन्होंने अपने दत्तक पुत्र यशवंत की उक्त ग्यारह वर्षीया राधा नाम की लड़की से विवाह किया।

रूढ़िवादी ब्राह्मणों ने सत्यशोधक समाज पर मुकदमा चलाया था कि पौरोहित्य ब्राह्मण ही कर सकता है और वही विवाह, मृत्यु आदि में संस्कार करा सकता है, शूद्र नहीं। यह मुकदमा बंबई हाईकोर्ट में चल रहा था। अंत में ब्राह्मण हार गये और सत्य शोधक समाज की विजय हुई। बड़ौदानरेश ने भी ज्योतिराव को समय से आर्थिक सहयोग दिया था तथा उनकी अनेक बार प्रशंसा की थी।

20. अन्तिम दिन

ज्योतिराव का स्वास्थ्य गिरता जा रहा था। उन्हें आभास हो चला था कि अब शरीर जाने वाला है। एक इसाई मनीषी जो आपके मित्र थे, मिलने आये और उन्होंने पूछा—''आपको शांति है अथवा नहीं? क्या आपके हृदय में अपनी संभाव्य जीवन की अंतिम यात्रा को निकट आते देख किसी प्रकार की उद्विग्नता नहीं है?'' महात्मा ज्योतिराव फुले ने शांतभाव से उत्तर दिया—''मैंने स्वार्थरहित उपयोगी जीवन जीया है, मेरे जीवन का उद्देश्य पूरा हो गया। मुझे किसी प्रकार की चिंता अथवा भय नहीं है। मेरा चित्त अत्यंत नीरव तथा परम शांत है।''[1]

ज्योतिराव की एक पुस्तक 'सार्वजनिक सत्यधर्म पुस्तक' अप्रकाशित थी। उसकी उन्हें चिंता थी कि कैसे प्रकाशित होगी। यह भाव देखकर उनके अभिन्न ब्राह्मण मित्र वाल्वेकर जी ने कहा कि मैं इसे अपने निजी पैसे से छपाकर प्रकाशित कर दूंगा। अपने मित्र का यह आश्वासन पाकर ज्योतिराव का मन हलका हो गया।

बृहस्पतिवार 27 नवम्बर, 1890 ई० को करीब पांच बजे सायं को परिवार एवं मित्रों को सांत्वना देकर उन्हें कहा कि परमात्मा की प्रार्थना करो और स्वयं भी प्रार्थना करते हुए कहा कि हे प्रभु! अब बिना विलम्ब किये शीघ्र ही मुझे उठा लो। रात होते-होते उन्होंने आंखें बन्द कर लीं और आधीरात के बाद दो बजकर बीस मिनट पर उस महापुरुष ने इस असार संसार को त्याग दिया।

उन्होंने अपने वसीयतनामे में लिखा था कि मेरा शव जलाया न जाये, बल्कि जमीन खोदकर उसमें समाधि दे दी जाये, परंतु संभवत: इस बात का किसी को स्मरण भी न रहा हो, या जो हो, उनका शव जलाया गया। उसके तीन दिन बाद उनके भस्मावशेष को एक कलश में रखकर उसकी समाधि दी गयी।

---

1. **म० ज्यो० फुले, पृष्ठ 191।**

उनकी अंत्येष्टि के समय सभी उपस्थित सज्जनों ने उनकी प्रशंसा की तथा ''अच्छे शील स्वभाव के ब्राह्मणों ने उद्‌घोष किया, ज्योतिराव का नाम यशस्वी हो।''[1]

अनेक समसामयिक पत्र-पत्रिकाओं ने ज्योतिराव की प्रशंसा में लेख छापे। एक ब्राह्मण संपादक बी० के० ओक ने लिखा कि ज्योतिराव यशस्वी जनमंगलकर्ता थे। वे केवल दुश्शील ब्राह्मणों की भर्त्सना करते थे, अच्छे ब्राह्मणों की नहीं।

इसके सात वर्ष बाद 1897 ई० में ज्योतिराव की पत्नी सावित्री बाई का निधन हो गया। तथा इसके आठ वर्ष बाद 1905 ई० में लगभग बत्तीस वर्ष की उम्र में दत्तक पुत्र यशवंत का भी निधन हो गया।

सभी का शरीर थोड़े दिन रहकर अंततः मिट्टी हो जाता है, परंतु लोकमंगलकारी मनीषियों का यशःशरीर तब तक बना रहता है जब तक जनता उनके सद्‌गुणों से प्रेरणा लेती रहती है। महात्मा ज्योतिराव फुले की सद्‌गुण-सुगंधी मानवीय वातावरण में फैलती रहेगी और वे यशःशरीर से लोगों के मानस में अमर रहेंगे।

---

1. म० ज्यो० फुले, पृष्ठ 195।